

बुभुक्षाग्लपिताक्षाणां प्राणिरक्षा कुतस्तनी ।

क्षमादयः क्षुधार्तानां शङ्ख वाश्चापि तपस्विनाम् ॥ ६२ ॥

स्पष्टम् ॥ ६२ ॥

अथ खुधाग्लानेन वेयावृत्यं दुष्करमाहारत्राणाश्च प्राणा योगिनामपौत्युपदिशति-

मुनिकेआहार करनेकेकारण बताते हैं -

भूखकी वेदनाका शमन करनेकेलिए, संयमकी सिद्धिकेलिए, अपनी तथा दूसरोंकी सेवाकेलिए, प्राण धारकेलिए तथ मुनिकेदह आवश्यक कर्तव्य, ज्ञान, ध्यान आदिकेलिए मुक्तिको आहार करना चाहिए ॥

६१ ॥

विशेषार्थ- मुनिके भोजनके छियालीस दोषा सोलह अनतराय आदि बतलानेसे भोजनकीट मनुष्योंको ऐसा ग सकता है कि इतने प्रतिबन्धक रों गाये गये हैं । इसकेलिए ही यह बताया है कि साधुके भोजन करनेकेउददेशकया है । वे जिह्वा या अन्य इन्द्रियोंकी तृप्ति और शरीरकी पुष्टि केलिए भोजन नहीं करते, किन्तु संयम--ध्यानकी सिद्धिकेलिए भोजन करते हैं । न सबकी सिद्धि शरीरके बिना सम्भव नहीं होती और शरीर भोजनके बिना ठहर नहीं सकता । अतः शरीरका बनाये रखनेकेलिए भोजन करते हैं । यदि शरीर अत्यन्त दुर्ब हो तो साधु आपनरा कर्तव्य कर्म भी नहीं कर सकता । और यदि शरीर अत्यन्त पुष्ट हो तो भी धर्मका साधन सम्भव नहीं है । मूलाचारमें कहा भी है - मेरे शरीरमें युद्धादि करनेकी क्षमता प्राप्त हो इसिए साधु भोजन नहीं करते, न आयु बनानेकेलिए, न स्वादकेलिए, न शरीरकी पुष्टि क लिए, न शरीरकी चमक-दमककेलिए भोजन करते हैं । किन्तु ज्ञानकेलिए, संयमकेलिए और ध्यानकेलिए ही भोजन करते हैं । यदि भोजन ही न करें तो ज्ञान-ध्यान नहीं हो सकता ।

आगे कहते हैं कि भूखसे पीडित मनुष्यकेदया-क्षमा आदि नहीं होती-

जिनकी इन्द्रियाँ भूखसे शक्ति तहीन हो गयी हैं वे अन्य प्राणियोंकी रक्षा कैसे कर सकते हैं ? जो तपसवी भूखसे पीडित हैं उनके भी क्षमा आदि गुण शंकासपद ही रहते हैं अर्थात् उनकी क्षमाशीलतामें भी सन्देह ही है । इसिए क्षमाको विरीका भूषण कहा है ॥ ६२ ॥

आगे कहते हैं कि भूखसे पीडित व्यक्ति त्के द्वारा वेयावृतय दुष्कर है-और योगियोंके भी प्राण आहारकेबिना नहीं बचते -

क्षुत्पीतवीर्येण परः स्ववदार्तो दुरुध्दरः ।

प्राणाश्चाहारशरणा योगकाष्ठाजुषामपि ॥ ६३ ॥

पीतं - नाशितम् ॥ ६३ ॥

अथ भोजनत्यजनिमित्तान्याह-

आतडक उपसर्गे ब्रह्मचर्यस्य गुपतये ।

आत्म उ-आकस्मिकोत्थितव्याधी मारणानितकपीडायाः । गुप्तये-सुष्टु, निर्मलीकरणथम् ।
दयार्घ्यां- आदिशब्देन श्रामण्यानुवृत्ति-समाधिमरणादिपरिग्रहः ॥ ६४ ॥

अथ स्वास्थ्यार्थाय सर्वेषणादिभिः समीक्ष्य वृत्तिं कल्पयेदित्युपदिशति-

द्रव्यं क्षेत्रं बं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च ।

स्वास्थ्ययाय वर्ततां सर्वविधशुद्धाशनैः सुधीः ॥ ६५ ॥

द्रव्यं-आहारादि । क्षोत्रं - भूम्येकदेशी जाडादि । तलक्षणं मिथ्या-

देशोऽल्पवारिद्रुनगो जाउलः स्वल्परोगदः ।

अनूपो विपरीतोऽस्मात् समः साधारणः स्मृतः ॥

जाडलं वातभूयिष्ठमनूपं तु कफोत्वणम् ।

साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत् ॥ []

जिस मनुष्यकी शक्ति त भूखसे नष्ट हो गयी है वह अपनी तरह दुःखसे पीडित दूसरे मनुष्यका उद्धार नहीं कर सकता । जो योगी योगके आठ अंग यम, धियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिकी चरम सीमापर पहुँच गये हैं उनके भी प्राणोंका शरण आहार ही है । वे भी आहारके बिना जीवित नहीं रहते, फिर योगाभ्यासियों का तो कहना हीक सा है ? ॥ ६३ ॥

भोजन छोडनेके निमित्तोंको दिखाते हैं -

अचानक कोई मारणानितक पीडा होनेपर, देव आदिके क्षरा उपसर्ग किये जानेपर, ब्रह्मचर्यको निर्मल करनेके लिए, शीररको कृश करनेके लिए, तपके लिए और प्राणियोंपर दया तथा समाधिमरण आदिके लिए साधुकों भोजन नहीं करना चाहिए ॥ ६४ ॥

आगे स्वास्थ्यके लिए विचारपूर्वक सर्वेषणा आदिके द्वारा भोजन करनेका उपदेश देते हैं-

विचारपूर्वक कार्य करनेवाले साधुको द्रव्य, क्षेत्र, अपनी शारीरिक शक्ति त, हेमनत आदि छह ऋतु, भाव और स्वाभाविक शक्ति त्का अच्छी तरह विचार करके स्वास्थ्यके लिए सर्वाशन, विध्दाशन और शुध्दाशनके क्षरा भेजन ग्रहण करना चाहिए ॥ ५६ ॥

विशेषाथ-साधुको द्रव्य आदिका विचार करके आहार ग्रहण करना चाहिए । द्रव्यसे मतलब आहारादिसे है । जो आहार साधुचर्याके योग्य हो वही ग्रहाहृद्य होता है । भूमिप्रदेशको क्षेत्र कहते हैं । हभोजन खेत्रके अनुसार होना चाहिए । उसका लक्षण इस प्रकार है - भूदेश अर्थात् क्षेत्र तीन प्रकारका होता है - जांगल, अनूप और साधारण । जहाँ पानी, पेड और पहाड कम हों उसे जांगल कहते हैं यचह

स्वल्प रोगकारक होता है । अनूप जांगलसे विपरीत होता है । और जहाँ जल आदि न अधिक होन कम, उसे साधारण कहते हैं ।

बलं-अननादिजं स्वाउसामर्थ्यम् । कालं - हेमन्तादिऋतुषु कम् ।
तच्चर्या यथ--

शरद्वसनतयो रुक्षं शीतं धर्मघनानतयोः ।
अन्नपानं समासेन विपरीतमतोऽन्यदा ॥ [अष्ट ङ्गहृदय ३/५७]

तथा--

शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् वसनतेऽनत्यान् रसान्जेत् ।
स्वादुं निदाघे शरदि स्वादुत्त्रि त्कषायकन्द्य ॥ [अष्ट ङ्गहृदय ३/५६]
रसाः स्वाद्वाम्ललवणत्त्रि त्तेषणकषयकाः ।
षड्द्रव्यमाधिश्रितास्ते च यिापूर्वं बलावहाः ॥ [अष्ट ङ्गहृदय १/१४]

भावं- श्रद्धोत्साहादिकम् । वीर्य- संहननं नैसर्गिकशक्ति तरित्यर्थः । स्वास्त्रियाय- आरोग्यार्थ
स्वात्मन्यवस्थानार्थं च । सर्वाशनं-एषणासमितिशुद्धं भेजनम्य । विध्दाशनं-गुड-तै-घृत- दधिध दुग्ध-शाला
नादिरहितं सौवीरशुक् क्लतक्रिदसमन्वितम् । शुध्दाशनं-पाकारवतीर्णरुपं मनाप्यन्यिका न कृतम् । च तं च-

सववेसणं च विद्देसणं च सुध्देसणं च ते कमसो ।
एसण समिदिर्विसुध्दं णिव्वियउमजवंजणं जाण ॥ [मूचाचार ६/७० गा.]

अत्र प्रत्येकं चशब्दो असर्वेषणमविद्वेषणमशुध्दैषणं चेत्येवमर्थः । कदाचिद्धि तादृगपि योगयं
कदाचिच्चायोगयमितिट्टीकाव्याख्यानसंग्रहार्थं सयमीक्ष्य चेत्ययं चशब्दः (-र्द्धार्थः) ॥ ६५ ॥

जगलमें वातका आधिक्क रहता है, अनूप देशमें कफकी प्रधानता रहती है और साधारण प्रदेशमें तीनों ही
सम रहते हैं । अतः भोजनमें खेत्का भी विचार आवश्यक है ।

कासे मतलब छह ऋतुओंसे है । ऋतुचर्याका विधान इस प्रकार किया है- शरत् और वसनत
ऋतुमें रुक्ष ता ग्रीष्म और वर्षा ऋतुमें शीत अन्नपानेना चाहिए । अन्य ऋतुओंमें इससे विपरीत अन्नपान
लेना चाहिए । तथा मधुर, खट्टा, लवण, कटु, चरपरा, कसौ ये छह रस हैं जो द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं ।
और उत्तरोत्तर कम-कम बलबर्धक हैं । अतः अशीत और वर्षा ऋतुमें आदिके तीन रसोंका और वसंत
ऋतुमें उनतके तीन रसोंका, ग्रीष्म ऋतुमें मधुरका और शरद् ऋतुमें मधुर, त्रि त और कषाय रसका
सेवन करना चाहिए ।

एषणा समितिसे शुद्ध भोजनको सर्वाशन कहते हैं । गुड, तेल, घी, दही, दूध, सालन आदिसे रहित और कांजी, शुद्ध तक्र आदिसे युक्त भोजनको विध्दाशन कहते हैं । जो पाकर जैसा तैयार हुआ हो और किंचित् भी अन्य रूप न किया गया हो उस भोजनको शुद्धाशन कहते हैं । मूलाचारमें कहा भी है -- एषण समितिसे विशुद्ध भोजन सर्वैरण है । निर्विकृत अर्थात् गुड, तेल, घी, दूध, दही, शाक आदि विकृतियोंसे रहित और कांजी-तक्र आदिसे युक्त भोजन विध्दाशन होता है । तथा कांजी-तक्र आदिसे रहित, बिना व्यंजनके पाकर तैयार हुआ जैसाका तैसा भोजन शुद्धाशन है । ये तीनों ही पेकारका भोजन खानेके योग्य है । जो भोजन सब रसोंसे युक्त है, सब व्यंजनोंसे सहित है वह कदाचित् योग्य और कदाचित् अयोग्य होता है । यह मूलाचारकी संस्कृत टीकामें कहा है । उसीके आधारसे पं. आशाधर जीने कहा है ॥ ६ ॥

अथ विधिप्रयुक्त भोजनाच्च परोपकारं दर्शयनाह-

यत्प्रतं गृ.हिणात्मने कृतमपेतैकाखजीवं त्रसे-
निर्जीवैरपि वर्जितं तदशनाद्यात्मात्सिद्धयै यतिः ।
युञ्जनुध्दरति स्वमेव न परं किंतहिं सम्यग्दृशं,
दातारं द्युशिवश्रिया च सचते भोगैश्च मिथ्यादृशम् ॥ ६६ ॥

प्रतं-प्रकर्षेण प्रतिग्रहादिनवपुण्यलक्षणेन दत्तम् । नवपुण्यानि यथा-

पडिगहमुच्चङ्घाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मण वयणकाय सुध्दी एसणसुध्दीय णवविहं पुण्णं ॥ [वसु. श्रा. २२४]

गृहिण-नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थेन गृहस्थेन ब्राह्मणाद्यन्यतमेन न शिल्प्यादिना । तदुक्तम् -

शिल्पि-कारुक-वम् ण्यशम्भलीपतितादि ।
देहस्थितिं न कुर्वीत लिडिलिडोपजीविषु ॥
दीक्षायोग्यास्त्रयो वणश्चित्त्वारश्च विधोचिताः ।
मनोवम् क्यधर्माय मताः सर्वेऽपि जनतवः ॥ [सो० उपा० ७९०-७९१]

द्युशिवश्रिया-स्वर्गापवर्गक्षम्या । सचते-सम्बध्नाति तद्योग्यं करोतीत्यर्थः ॥ ६६ ॥

विधिपूर्वक किये गये भोजनसे अपाना और परका उपकार बताते हैं-

जो भोजन आदि नित्य-नैःत्तिक अनुष्ठान करनेवाले गृहस्थकेद्वारा अपने लिए बनाया गया हो और एकेन्द्रिय प्राणियोंसे रहित हो तथा मृत या जीवित दो-इन्द्रिय आदि जीवोंसे भी रहित हो और नवधा भक्ति त

पूर्वक दिया गया हो, उस भाजनादिको अपने सुख और दुःखकी निवृत्तिके लिए ग्रहण करनेवाला साधु केवल अपना ही उध्दार नहीं करता, किन्तु सम्यग्दृष्टि दाताको स्वर्ग ओर मोक्षरूपी लक्ष्मीके योग्य बनाता है और मिथ्यादृष्टीदाताको इष्ट विषय प्राप्त कराता है ॥ ६६ ॥

विशेषार्थ- मुनि हर एक दाताकेक्षरा दिया गया आहार गहया नहीं करते । सोमदेवसूरिने कहा है- नार्ही, धोबी, कुम्हार, हार, सुनार, गायक, भट , दुराचारिणी स्त्री, नीच गोंके घरमें तथा मुनियोंके उपकरण बेचकर जीविका करनेवाोंके घरमें मुनिको भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए । जथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य ये तीन वर्ण ही मुनिदीक्षाके योग्य हैं । किन्तु मुनिको आहारदान देनेका अधिकार चारों वर्णोंको है । व क्योंकि सभी प्राणियोंको मानसिक, वाचिक और कायिक धर्म पालन करनेकी अनुमति है ।

दाताको नवधा भक्ति उसे आहार होना चाहिए । वे एस प्रकार हैं -

अपने क्षर पर साधुके पधारने पर हे स्वामी, ठहरिये ऐसा तीन बार कहकर उन्हें सादनर ग्रहण करना चाहिए । तथा उच्चस्थन पर बैठाना चाहिए । फिर जैसे उनके चरण पखारना चाहिए । फिर अष्ट द्रव्यसे पूजन करना चाहिए । तथा नमस्कार करना चाहिए । फिर मन शुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और भोजन शुद्धि प्रकट करनी चाहिए । इन्हें नवपुण्य कहते हैं । इस विधिसे दिये गये दानको स्वीकार करके मुनिका तो उपकार होता ही है, दाताका भी उपकार होता है । मुनिको भक्तिभावसे आहार देनेवाका सम्यग्दृष्टि गृहस्थ स्वयं अपने भावोंसे पुण्य बन्ध करनेसे भोगथूमिमें और स्वर्गमें जनम लेकर सुख भोगता है । और

अथ द्रव्यभावशुद्धयोरनंतरमाह-

द्रव्यतः शुद्धमपयन्नं भावाशुद्ध्या प्रदुष्यते ।

भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धो मोक्षाय निश्चितः ॥ ६७ ॥

द्रव्यतः शुद्धमपि, प्रासुकशुद्धमपीत्यथः । ॐ तं च-

प्रगता असवो यस्मादननं तद्द्रव्यतो भवेत् ।

प्रासुकं किंतु तत्स्वस्मै न शुद्धं विहितं मतम् ॥ []

भावाशुद्ध्या- मदर्थ साधुकृतमिदमि परिणामदृष्ट चा । अशुद्धः - राग, षमोहरूपः ॥ ६७ ॥

अथ परार्थकृतस्याननस्य भोक् कुरदुष्ट त्वं दृष्णानतेन दृढ स्ननाह-

योक् तस्यः कमिको दुष्येननात्र भोक् त विपर्ययात् ।

मत्स्या हि मत्स्यमदने जले मा'नित न प्लवाः ॥ ६८ ॥

योक् ऋ-अन्नादेर्दाता । अधःकर्मिकः- अधःकर्मणि प्रवृत्तः । हेतुनिर्देशोऽयम् । दुष्येत् -
दोषैरुपलिप्येत् । भोक् ऋ-संयतः । विपर्ययात्-- अधः कर्मरहितत्वादित्यर्थः । मा'नित-विह्वलीभवन्ति ।
प्लवाः- मण्डूकाः । ऋ तं च-

मत्स्यार्थं (प्रकृते) योगे यथा माद्यनित मत्स्यकाः ।

न मण्डूकास्तथा शुद्धः परार्थं प्रकृते यतिः ॥

अधः कर्मप्रवृत्तः सन् प्रासुद्रव्येऽपि बन्धकः ।

अधः कर्मण्यसौ शुद्धौ यतिः शुद्धं गवेश्येत् ॥ []

वहाँसे मनुष्य होकर तप करके मोक्ष पाता है । इसमें दान ग्रहण करनेवाले मुनिका कुछ भी कर्तृत्व नहीं है । मुनि तो केवल अवलम्ब मात्र है । मिथ्यादृष्टि दाता भी दानके फलस्वरूप इष्ट विषयोंको प्राप्त करता है ॥ ६६ ॥

द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धिमें अनंतर कहते हैं -

द्रव्यसे शुद्ध भी भोजन भावक अशुद्ध होनेसे अशुद्ध हो जाता है: व क्योंकि अशुद्ध भावबन्धके लिए और शुद्ध भाव मोक्षके लिए होते हैं यह निश्चित है ॥ ६७ ॥

विशेषार्थ-जिस भोजनमें जीव-जनतु नहीं होते वह भोजन द्रव्य रूपसे प्रासुक होता है । किन्तु इतनेसे ही उसे शुद्ध नहीं माना जाता । उसके साथमें दाता और ग्रहीताकी भाव शुद्धि भी होना आवश्यक है । यदि दाताके भाव शुद्ध नहीं हैं तो भी ठीक नहीं है । और मुनि विचारे कि इसने मेरे लिए अच्छा भोजन बनाया है तो मुनिके भाव शुद्ध नहीं है व योंकि मुनि तो अनुद्विष्ट भोजी होते हैं । आपने लिए बनाये गये आहारको ग्रहण नहीं करते । अतः द्रव्यशुद्धिके साधा भाव शुद्धि होना आवश्यक है ॥ ६७ ॥

सरेके लिए बनाये ये भोजनको ग्रहण करनेवाला मुनि दोपरहित है इसे दृष्टान्तके द्वारा दृढ करते हैं-

जो आहारदाता अधःकर्ममें संलग्न होता है वह दोषका भागी होता है । उस आहार को ग्रहण करनेवाला साधु दोषका भागी नहीं होता: वह अधः कर्ममें संलग्न नहीं है । व योंकि योग विशेषके खरा जिस जलको मदलियांके लिए मदकारक बना दिया जाता है उस जलमें रहनेवाली मदलियांको ही मदत होता है, मेछकोंको नहीं होता ॥ ६८ ॥

विशेषार्थ-भोजन बनानेमें जो हिंसा होती है उसे अधः कर्म कहते हैं । इस अधःकर्म का भागी गृहस्थ होता है व क्योंकि वह अपने लिए भोजन बनाता है । उस भोजनको साधु

अपि च-

आधाकम्मपरिणदो पासुगद्वे वि बंधगो भणिदो ।

सुद्धं गवेसमाणे आधाकम्मे वि सो सुद्धो ॥ [मुचाार ४८७] ॥ ६८ ॥

अथ शुद्धाहारहितसामर्थ्योद्योतितसिद्ध्युत्साहास्त्रिकालविषयान् मुमुखूनात्मनः सिद्धिं प्रार्थयमानः

प्राह-

विदधति नवकोटि शुद्धीकृतं ऋद्युपाजे -

कृतनिजवपुषो ये सिद्धये सज्जमोजः ।

विदधमु मम भूता भाविनसते भवन्तो-

ऽप्यसमशमसमृद्धाः साधवः सिद्धिमध्दा ॥ ६९ ॥

नवकोट च- मनोवन्न क्रयैः प्रत्येकंकृतकारितानुमतानि । तच्छुद्धं--तद्रहितमित्यर्थः । आर्षेत्वेवम् --

दातुर्विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनाति सा ।

शुद्धिर्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यदः ॥

पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देयं चैव पुनात्यतः ।

नवकोटि विशुद्धं तद्वानं भूरिलोदयम् ॥ [महापु. २०/१३६-१३७]

ग्रहण करते हैं किन्तु वे उस अधःकर्म दोषसे लिप्त नहीं होते: व क्योंकि उस भोजनके बनानेसे साधुका कृत-कारित या अनुमत रूपसे कोई सम्बन्ध नहीं है । बल्कि साधुको दान देनेसे गृहस्थको रसोई बनानेमें जो पाप होता है व हथुल जाता है । आचार्य समनतभद्रने कहा है- घर दोड़ देनेवो अतिथियोंकी अर्थात् साधुओंकी पूजा पूर्वक दिया गया दान घरके कामोंसे संचित पापको भी उसी प्रकार दूर कर देता है जैसे पानी ऋ तको धो देता है ।

किन्तु यदि साधु उस भेजनको अपने लिए बनाया मानकर गौरवका अनुभव करता है तो वह भी उस पापसे लिप्त होता है । मूलाचारमें कहा है-- भोजनके प्रासुक होनेपर भी यदि उसे ग्रहण करनेवाला साधु अधःकर्मसे युक्त होता है अर्थात् यदि उस आहारको बड़े गौरवके साथ अपने किये किया मानता है तो उसे कर्मबन्ध होता है ऐसा आगममें कहा है । किन्तु यदि साधु शुद्ध आहारकी खोजमें है, जो कृत कारित और अनुमोदनासे रहित हो, तो यदि आहार अधःकर्मसे भी युक्त हो तो भी वह शुद्ध है । उस आहारको ग्रहण करके साधुको बन्ध नहीं होता, व क्योंकि साधुका उसमें कृत, कारित आदि रूप कोई भाव नहीं है ॥ ६८ ॥

आगे शुद्ध आहारके द्वारा प्राप्त हुई सामर्थ्यसे मोक्ष विषयक उत्साहको उद्योतित करनेवाले त्रिकलावतीर मुमुक्षुओंसे अपनी मुक्ति त्की प्रार्थना ग्रन्थकार करते हैं --

नवकोटि से विशुद्ध भेजनादिके द्वारा अपने शीरके बल देनेवाले और असाधारण उपशम भावसे सम्पन्न जो अतीत, अनागत और वर्तमान साधु सिद्धिके लिए अतसाहको साखत् समर्थ बनाते हैं, वे मुझे तत्काल आत्म स्वरूपकी उपब्धि करावें अर्थात् उनके प्रसादसे मुझे मुक्ति त्की प्रापित हो ॥ ६९ ॥

उपाजृतानि-बलाधानयुक् ऋनि कृतानि । सज्जं-साक्षात्क्षमम् । ओजः-उत्साहः । अधदा-झटि रीति
भद्रम् ॥ ६९ ॥

इत्याशाधरदृब्धायां धर्माभृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां

पञ्चमोऽध्यायः ।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं सप्तत्यधिको द्विशतम् । अङ्कः २७० ।

विशेषार्थ-मन वचन काय सम्बन्धी कृत कारित अनुमोदनासे रहित आहार नवकोटि से विशुद्ध होता है वही साधुओंकेलिए ग्राह्य है । महापुराणमें कहा है- दाताकी विशुद्धता देय भोजयको और पात्रको पवित्र करती है । हृदेयकी शुद्धता दाता और पात्रको पवित्र करती है । और पात्रकी शुद्धि दाता और देयको पवित्र करती है । इस तरह नवकोटि से विशुद्ध दान बहुत फलदायक होता है । अर्थात् दाता, देय और पात्र इन तीनोंकी शुद्धियोंका सम्बन्ध परस्परमें जोडनेसे नवकोटि याँ बनती है । इन नवकोटि योंसे विशुद्ध दान विशेष फलदायक होता है ॥ ६९ ॥

इस प्रकार पं. आशाधर रचित अनगार धर्माभृतटीका भव्यकुमुद चन्द्रिका

तथा ज्ञानदीपिकाकी अनुवर्तिनी हिन्दीटीकामें पिण्डशुद्धिविधान

नामक पश्चम अध्याय पूर्ण हुआ

अथैवमुक्त्वा क्लृप्तापराधनोपक्रमविधिमभिधत्ते--
सम्यक्तापआराधनोपक्रमविधिमभिधत्ते--

दृग्वज्रदोण्युपघ्नेऽद्भुत विभाववषट्ठीपदीप्रं स्फुटं नु
प्रेक्षातीर्थं सुगुपितवतसतितिवसुभ्राजि बोधाबजराजि ।
मग्नोन्मग्नोर्तिरत्नत्रयमहिमभरव्यम्नि तदृपतेऽभियुक्त्वा,
मज्जनित्वच्छानिरोधामृतवपुषि तपसतोयधौ तापशान्त्यै ॥ १ ॥

उपधनः-- आश्रयः । वृषः-- धर्मः । तीर्थं- प्रवेशधट्टः । वसनि-- रत्नानि । अब्जः-- चन्द्रः ।
मग्नोन्मग्नोर्मि-- मग्नास्तिरोभूताः स्वकार्यकरणाक्षमाः उनमग्नोर्मय उद्भूतपरीषहा यत्र, पक्षे मग्नाः
केचिन्निमीताः केचिच्च उन्मग्ना उन्मीलिता ऊर्मयस्तरडा मयत्र । रत्नत्रयं निश्चयमोक्षमार्गोऽत्र । व्यम्नि तः--
आविर्भवः । तापशान्त्यै--मानस-वाचनिक-कायिकानां सहजशारीरागनतूनां वा दुःखानामुच्छेदार्थम् ॥ १ ॥

इस प्रकार रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्गमें सतत महान् उद्योगके लिए दृष्ट निश्चयी और शारीरिक,
वाचक तथा कायिक या स्वाभाविक, शारीरिक और आगनतुक दुःखोंके विनाशके इच्छुक साधुओंके सम्यक्
तप आराधनाके उपक्रमकी विधि कहते हैं-

मोक्षमार्गमें नित्य उद्योगशी साधुओंको शारीरिक, वाचनिक, मानसिक तापकी शानतिके लिए
अथावा सहज शारीरिक और आगुन्तक दुःखोंके विनाशके लिए तपरूपी समुद्र में स्नान और अवगाहन
करना चाहिए । वसतुतः तप समुद्रके समान है । जैसे समुद्रमें अवगाह करना कठिन है वैसे ही तपका
अवगाहन भी कठिन है । अमृत अर्थात् जल समुद्रका शरीर है । इसी तरह मोहनीय कर्मके उदयसे
होनेवाली इच्छाका निरोध भी अमृतके तुल्य है क्योंकि वह अमृतकी तरह सांसारिक संतापकी शानतिके
कारण है । यह इच्छा निरोध रूप अमृत ही तपका शरीर है । उसीमें अवगाहन करनेसे तापकी शानति हो
सकती है । जैसे समुद्रका आश्रय वज्रमय नाव है । वज्रमय नावके द्वारा ही समुद्रमें अवगाहन किया जाता
है, सी तरह तपका आरय सम्यग्दर्शन रूपी नाव है । सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक् तपमें उतरना शक्य नहीं
है । जैसे समुद्रमें दीप होते हैं और वे आश्चर्यकारी विभूतिसे युक्त होते हैं, उसी तरह आश्चर्यकारी
विभूतिसे सम्पन्न उत्तम क्षमा आदि दश धर्म तप रूपी समुद्रके क्षीप हैं, उनकसे वह पकाशमान होता है ।
जैसे समुद्रमें प्रवेश करनेके लिए तीर्थ अर्थात् घट होते हैं, उसी तरह तप रूपी समुद्रमें प्रवेश करनेके
लिए अत्यि आदि बारह भावन तीर्थ है । इन बारह भावनाओंके सतत चिन्तनसे मुमुक्षु तपके भीतर प्रवेश
करता है । जैसे समुद्रमें रत्न होते हैं, असी तरह सम्यग् गुपित समिति व्रत वगैरह तप रूपी समुद्रके रत्न
हैं, उनसे वह शोभित होता है । तथा जैसे समुद्र चन्द्रमासे शोभित होता है । वैसे ही तप उनसे शोभित
होता है । तथा जैसे समुद्रमें कुछ तरंगे उन्मीलित और कुछ तरंगे निमीलित होती हैं उसी तरह तपमें

उत्पन्न हुई परीषह धैर्य भावनाके बलसे तिरोभूत हो जाती है अपना कार्य करनेमें असमर्थ होती हैं । तथा जैसे समुद्र ऐरावत हाथी, कौस्तुभमणि और पारि

अथ दशलक्षण धर्म व्याचष्टे

क्रूरक्रोधाद्यदभवाडप्रसडेऽप्यादत्तेऽध्दा यनिनरीहः क्षमादीन् ।

शुध्दज्ञानानन्दसिध्दयै दशात्मा ख्यातः सम्यग् विश्वविभिदः सधर्मः ॥ २ ॥

क्रूराः- दुःखदा दुनिवारावा । अडानि-कारणानि । आदत्ते-(स्वी-) करोति । अध्दा- व्यग्र तं णटि ति वा । निरीहः- लाभघ्नपेक्षः । क्षमा- क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सनिनधानेऽपि कुष्याभवः ॥ २ ॥

अथ कषायाणामपायभूयस्त्वातिदुर्जयत्वप्रकानपुरस्सरं जेयत्वमुपदर्श्य तद्विजये परं स्वास्थ्यमावेदयति--

जीवनतः कणशोऽपि तत्किमपि ये घ्नन्ति स्वनिध्नं मह-

सते सद्भिः कृतविश्वजीवविजया जेयाः कषायद्विषः ।

यनिनर्मूलनकर्मठेषु बलवत्कर्मारिसंघाश्चिता-

मासंसारनिरुद्ध बन्धविधुरा नोत्क्रथयन्ते पुनः ॥ ३ ॥

स्वनिघ्नं--स्वाधीनम् । चितां--चेतनानाम् । कर्मणि षष्ठी । निरुटानि निर्वाहितानि । नोत्क्रथ यन्ते-
-नहिंसन्ति ॥ ३ ॥

जात वृक्ष रूप तीन रत्नोंके माहात्म्यके अतिशयके आविर्भावसे गर्वित होता है, अपना बडपपन अनुभव करता है वैसे ही तप रत्नत्रयरूप परिणत आत्माके घाति और अघाति कर्मोंका क्षय करनेमें समर्थ शत्रु अतिशयके द्वारा अपना उत्कर्ष प्रकट करता है । इस तरह तप समुद्रके तुलय है उसका अवगाहन करना चाहिए ॥ १ ॥

दश खण धर्मको कहते हैं --

दुःखदायक अथवा दुर्निवार क्रोध आदिकी उत्पत्तिके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी यसांसारिक लाभ आदिकी अपेक्षान करके शुध्द ज्ञान और आनन्दकी प्रापितके लिए साधु जो खमा, मार्दव आदि आत्म परिणामोंको तत्का अपनाता है से सर्वज्ञ देवने सच्चा धर्म कहा है । उस धर्मके दस रूप हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ-क्रोधकी उत्पत्तिके निमित्त मिने पर भी मनमें कुषताका उत्पन्न न होना क्षमा है । इसी तरह भर्दव आदि दस धर्म हैं । उनको जो आत्मिक शुध्द ज्ञान और सुखकी प्रापितके उद्देशसे अपनाता है वह धर्मात्मा है ॥ २ ॥

कषाय बुराईका घर है, अत्यन्त दुर्जय है यह बतलाते हुए उन्हें जीतना शक्य है तिला उनको जीतने पर ही आत्माका परम कयाण हेता है यह बतलाते हैं --

जो कणमात्र भी यदि जीवित हों तो आत्माके उस अनिर्वचनीय स्वाधीन तेजको नष्ट कर देती हैं और जिन्होंने संसारके सब जीवों पर विजय प्राप्त की है, किन्तु जो उनका भूलसे विनाश करनेमें कर्मठ होते हैं उन्हें अनादि संसारसे लेकर परतनत्रताका दुःख भुगानेवाले बलवान् कर्म शत्रुओंके समूह भी पुनः उत्पीडित नहीं कर सकते, उन कषायरूपी शत्रुओंको जीवना चाहिए ॥ ३ ॥

विशेषाथ--संसारकी जड कषाय है। कषायके कारण ही यह जीव अनादिकालसे संसारमें भ्रम कता किरता है। कषायने सभी जीवोंको अपने वशमें किया है इसलिए कषायोंका जीतना बहुत ही कठिन है। किन्तु जो इनहें जड़मूलसे उखाड़ फेंकनेके लिए कर्म कस लेते हैं उनका संसार बनधन सब्रदाके लिए टूट जाता है। इसलिए मुमुक्षुको कषायोंको जीतना चाहिए। उनको जीते बिना संसारसे उद्धार असम्भव है ॥ ३ ॥

अथ कोपसयानर्थकफत्वं प्रकाश्य तज्जयोपायमाहइ

कोपः कोऽपयग्निरनतबंहिरपि बहुधा निर्दहन् देहभाजः,

कोपः कोऽपयन्धकारः सह दृशमुभयी धीमतामपयुपघनन् ।

कोपः कोऽपि ग्रहोऽस्तत्रपमुपजनयन् जनमजनमाभ्यपायां-

स्तत्कोपंलोपतुमापतरुतिरसहरी सेव्यतां क्षनितदेवी ॥ ४ ॥

निद्रहन्-- निष्प्रतभकारं भस्मीकुर्वन् माहात्म्योच्छेदात् । उभयी--चाखुषी मानसी वा ।
जनमजनमाभि-- भवे भवे । वीप्सायामभेः कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्वारेण द्वितीया । आपतरुतिः-- परमागमः ॥ ४ ॥

अथ उत्तमक्षमाया माहात्म्यं स्तोतुमाह--

यः क्षाम्यति क्षमोऽप्याशु प्रतिकर्तुं कृतागसः ।

कृतागसं तमिच्छन्ति क्षानितपोयूषसंजुषः ॥ ५ ॥

कृतागसः--विहितापराधान् । कृतागसं--छिननपापम् ॥ ५ ॥

अथ क्षमाभवनाविधिमाह--

प्राग्वास्मिन्वा विराध्यन्निममहमबुधः किल्विषं यद्बबन्ध,

क्रूरं तत्पारतन्त्र्याद् ध्रुवमयमधुना मां शपनकाममाधनन् ।

निघ्नन्वा केन वार्यः प्रशमपरिणतस्याथवावश्यभग्यं,

भोक् तं मेऽद्यैव योग्यं तदिति वितनुतां सर्वथर्यस्तितिक्षाम् ॥ ६ ॥

सर्व प्रथम क्रोधका एक मात्र अनर्थ फल बतलाकर उसको जीतनेका उपाय कहते हैं--

प्राणियोंके अनतरंग और बाह्यको अनेक तरहसे ऐससा जलाता है कि उसका कोई प्रतीकार नहीं है। अतः क्रोध कोई एक अपूर्व अग्नि है: व योंकी अग्नि तो बाह्यको ही जलाती है किन्तु यह अनतरंगको भी जाता है। तिला बुद्धिमानोंकी भी चखु सम्बन्धी और मानसिक दोनों ही दृष्टि योंका एक साथ उपघात करनेसे क्रोध कोई एक अपूर्व अन्धकार है : व योंकि अन्धकार तो केव्र बाह्य दृष्टि का ही उपघातक होता है। तिला जनम-जनममें निर्लज्ज होकर अनिष्ओंका करनेवाला होनेसे क्रोध कोई एक अपूर्व ग्रह या भूत है। व योंकि भूत तो एक ही जनममें अनिष्ट करता है। उस क्रोधका विनाश करनेके लिए क्षमा रूपी देवीकी आराधना करना चाहिए जो जिनागमके अर्थ और ज्ञानके उल्लासका कारण है ॥ ४ ॥

उत्तम क्षमाके माहात्म्यकी प्रशंसा करते हैं--

जो अपराधियोंका तत्काल प्रतीकार करनेमें समर्थ होते हुए भी उनहें क्षमा कर देता है, खमा रूपी अमृतका सम्यक् सेवन करनेवाले साधुजन उसे पापका नाशक कहते हैं ॥ ५ ॥

क्षमा भवनाकी विधि कहते हैं--

मुझ अज्ञानीने इसी जनममें या पर्व जनममें एस जीवका अपकार करते हुए जो अवश्य भेगय पाप कर्मका बन्ध किया था, उस कर्मकी परवशताके कारण यह अपकारकर्ता इस समय मुझ अपराधीको बहुत गाली देता है या चाबुकसे मारता है या मेरे प्राणका हरण करता है तो उसे कौन रोक सकता है। अथवा माध्यस्थ्य भावपूर्वक मुझे उस अवश्य भेगय कर्मको इसी भवमें भेगना योग्य है व योंकि किया हुआ अच्छा या बुरा कर्म अवश्य भोगना होता है। इस प्रकार साधुको मन, वचन, कायसे क्षमाकी भवना करनी चाहिए ॥ ६ ॥

प्राक्-पूर्वभवे । असिमन्--इह भवे । क्रूरं--अवश्यभेग्यक्तु फलत्वादत्युग्रम् । आधनन्--चर्मयष्ट चादिना ताडयन् । वार्यः--निषेद्धुं शम्नः ॥ ६ ॥

अथ परैः प्रयुक् वे सत्याक्रेशादौ क्रोधनिमित्त चित्तं प्रसादयतः स्वेष्ट सिद्धिमाचष्टे--

दोषो मेऽस्तीति युक् तं शपति शपति वा तं विनाऽज्ञः परोक्षे,

दिष्ट चा साक्षान्न साक्षादथ शपति न मां ताडयेत्ताडयेद्वा ।

नासून् मुष्णाति तानवा हरति सुगदिं नेष धर्म ममेति,

स्वानतं यः कोपहेतौ सति विशदयति स्याद्धि तस्येष्ट सिद्धिः ॥ ७ ॥

दोषः-- नग्नत्वाशुचित्वामडलत्वादि । एतच्चात्मनि दोषसम्भवावानुचिनतनम् । शपति वा तं विना इति पुनसतदभवचिनतनम् । दिष्ट चा--वर्धामहे । इष्ट सिद्धि--खमाया हि व्रतशीलपरिरखणमिहामुत्र च दुःखानभिष्वङ्गः सर्वस्य जगतः सन्मान-सत्कारलाभ-प्रसिध्यादिश्च गुणः स्यात् ॥ ७ ॥

अथ क्रोधस्य दुःकीर्तिदारुणदुःखहेतुत्वं दृष्ट वान्तेषु स्पष्टं नृ दूरतस्त्याज्यत्वमुपदिशति--

विशेषार्थ-- पहले कहा है कि अपकार करनेवालेके उपकारका बदा चुकानेकी शक्ति त हाते हुए भी जो क्षमा करता है वही क्षमाशील है। अपनी कमजोरीके कारण प्रतिकार न कर सकनेसे क्षमाभाव धारण करना क्षमा नहीं है वह तो कायरता है। ऐसे कायर पुरुष मनमें बदलेकी भवना रखते हैं और ऊपरसे क्षमा दिखलाते हैं। जिन शासनमें इसे क्षमा नहीं कहा है। अपकारकर्ताके प्रति किंचित् भी दुर्भाव न रखते हुए जो उसके प्रति रखमाभव होता है वही सच्चा क्षमाभाव है। जब कोई हमारा बुरा करता है तो मनमें उसके प्रति रोष आता है। उसी रोषके निवारणके लिए ऊपरके विचार प्रदर्शित किये हैं। ऐसे विचारोंसे ही उत्पन्न होते रोषको रोका जा सकता है ॥ ६ ॥

आगे कहते हैं कि दूसरोंके गालियाँ आदि बकने पर भी जो अपने चित्तको प्रसन्न रखते हैं उनहे ही इष्ट की प्रापित होती है--

यदि कोई नग्न साधुको गाली देता है कि यह नंगा है, मैला है, अशुभ है तो साधु विचार करता है कि मैंक या हूँ, स्नान नहीं करता हूँ--ये दोष मेरेमें हैं यह गलत नहीं कहता। यदि वे दोष साधुमें न हों तो साधु विचारता है कि यह अज्ञानवश मुझमे दोष लगाता है। यदि कोई परोक्षमें निन्दा करता है तो वह विचारता है कि भाग्यसे मेरे परोक्षमें ही गाली देता है प्रत्यक्षमें तो नहीं देता। यदि कोई प्रत्यक्षमें उपशब्द कहता है तो वह विचारता है कि यह मुझे गाली ही देता है मारता तो नहीं है। यदि कोई मारे तो सोचनता है कि मारता ही है प्राण तो नहीं लेता। यदि कोई जानतसे मारता हो तो विचारता है कि प्राण ही तो लेता है सद्गति देनेवाले मेरे धर्मको नहीं हरता। इस प्रकार क्रोधके निमित्त मिलने पर जो साधु अपने मनमें प्रसन्न रखता है उसीको इष्ट की प्रापित होती है। अर्थात् खमाभव धारण करनेसे व्रत और शीलकी रक्षा होती है, इस लोक और परलोक सम्बन्धी दुःखोंसे छुट करा होता है तथा लोगोंसे सनमान मिलता है ॥ ७ ॥

क्रोध उपयश और दारण दुःखोंका कारण है यह बात दृष्टान्तोंकेद्वारा स्पष्ट करते हुए उसे दूरसे ही दोडनेका उपदेश करते हैं--

नाद्याप्यन्त्यमनोः स्वपित्यवर जामर्षार्जितं दुर्यशः,

प्रादोदोन्मरु भूतिमत्र कमठे वान्तं सकृत कुरद्विषम ।

दग्ध्वा दुर्गतिमाप यादवपुरी द्वीपायस्तु कुधा,

तत्क्रोधं हरिरित्यजत्वपि विराराधतयसौ पार्श्ववत ॥ ८ ॥

अन्त्यमनोः--भरतचक्रिणः । अवरजामर्षार्जित--बाहुबलिविषयाकोपार्जितम । प्रादोदोत--प्रकर्षण पुनः पुनरपि तपतिस्म । अजतु--क्षिपतु मुमुक्षुः । विराराधति--अत्यर्थ पुनः पुनर्वा विराध्यति सति । दुःखयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

इतना काल बीत जाने पर भी भरत चक्रवर्तीकेद्वारा अपने छोटे भाई बाहुबलि कुमार पर किये गये क्रोधसे अर्जित अपयश लुप्त नहीं हुआ है, बराबर छाया हुआ है। इसी लोकमे केवल एक बार अपने बडे भाई कमठपर वमन किये गये क्रोधरु पी विषने पार्श्वनाथके पूर्वभवके जीव मरभूतिको बार बार अत्यन्त

सन्तप्त किया। द्वीपायन नामक तपस्वी क्रोधसे द्वारिका नगरीको जलकार नरकमे गया। अतः किसी शत्रुके द्वारा अपकार किये जानेपर भी क्रोध नहीं करना चाहिए ॥ ८ ॥ विशेषार्थ--ग्रन्थकारने क्रोधका बुरा परिणाम दिखानेके लिए लोकमे और शास्त्रोमे प्रसिद्ध तीन दृष्टान्त दिये हैं। प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभदेवके एकसौ एक पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत थे। भगवाने प्रव्रजित होनेपर भरत अयोध्याके स्वामी हुए और उनक छोटे बाहुबलिकुमारको पौदनपुरका राज्य मिला। जब भरत दिग्विजय करके अयोध्यामे प्रवेश करने लगे तो चक्रवर्त्न मार्गमे रुक गया। निमित्त ज्ञानियोने बतलाया कि आपके भाँई आपकी आज्ञामे नहीं है इसीसे चक्रवर्त्न रुक गया है। भाँइयोके पासू दूत भेजे गये। बाहुबलीने आज्ञा न मानकर युद्ध स्वीकार किया। मन्त्रियोने दोनो भाँइयोके मध्यमे जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और मल्ल युद्ध होनेका निर्णय किया। तीनो युद्धोमे भरतकी हार हुई ते क्रोधमे आकर भरतने अने छोटे भाँइपर चक्रसे प्रहार किया। कन्तु देवोपनीत चक्रअपने सगे कुटुम्बियोपर तथा मोक्षमागी जीवोपर प्रहार नहीं करता। फलतः चक्रवर्त्न बाहुबलीकी तीन प्रदक्षिणा देकर उने हस्तगत हो गया। समस्त सेना और जनसमूहने सम्राट भरतके इस कार्यकी निन्दा की जो आज भी शास्त्रोमे निबद्ध है।

पौदनपुर नगरमे एक ब्राम्हणके दो पुत्र थे। बड़े पुत्रका नाम कमठ और छोटेका नाम मरु भूति था। राजाने मरु भूतिको अपना मन्त्री नियुक्त किया। एक बार राजा अपने मन्त्री मरु भूतिके साथ दिग्विजयके लिए बाहर गया। पीछे कमठने अपने छोटे भाँई मरु भूतिकी पत्नीपर आसन्न होकर उसके साथ दुराचार किया। जब राजाके कानो तक यह समाचार पहुँचा तो उन्होने कमठका मुँह काला करके देशसे निकाल दिया। कमठ एक पर्वत पर खड़े होकर तपस्या करने लगा। एक बार मरु भूति उसे पास क्षमा माँगने गया। कमठ दोनो हाथोमे शिला लेकर तपस्या करता था। जैसे ही मरु भूतिने उसे नमस्कार किया, कमठने उसपर शिला पटक दी। दोनो भाँइयोमे यह वैरी इकतरफा परम्परा कई भंवो तक चली। जब मरु भूति पार्श्वनाथ तीर्थकरके भवमे अहिक्षेत्रतपस्या करते थे तो कमठ वन्तर योनिमे जन्म लेकर उधरसे जाता था। पूर्व वैरका स्मरण आते ही उसने पार्श्वनाथ पर धोर उपसर्ग किया। तब पार्श्वनाथको केवलज्ञान हुआ और इस तरह इस वैरका अन्त हुआ।

१. -नरु पतपतिस्म भ. कु. च.^६

अथैवमुत्तमक्षमालक्षणं धर्म निरु प्येदानी मुत्तममार्दवलक्षणं लक्षयितु मानं धिर् कुर्वन्नाह--

हत्सिन्धुर्विधिशिल्पिकल्पितकुलाद्युत्कर्षहर्षोर्मिभिः,

किर्मीरः क्रियतां चिराय सुकृता म्लानिस्तु पुंमानिनाम ।

मानस्यात्मभुवापि कुत्रचिदपि स्वोत्कर्षसंभावन,

तद्धयेयेऽपि विधेश्चरेयमिति धिग्मानं पुमुत्प्लाविनम ॥ ९ ॥

हत्सिन्धुः--हृदयसमुद्रः । किर्मीरः--चित्रः । सुकृता--विपरीतलक्षणया आकृतपुण्यानाम । आत्मभुवा--पुत्रेण । धयेयेऽस्मरणीये वस्तुनि । अश्नः शत्रुणा इत्यर्थः । चरेय--प्रवर्तयमहम । पुमुत्प्लाविनं--पुमांसमात्मनमुत्प्लावयति माहात्म्याद भ्रशयतीत्येवरु मपम ॥ ९ ॥

द्वीपायन ऋषि द्वारिका नगरीके बाहर तपस्या करते थे। भगवान नेमिनाथने यह बतलाया था कि बारह वर्ष बाद द्वीपायनके कोपसे द्वारिका जलकर भस्म होगी। अतः द्वीपायन दूर चले गये थे और यादवोंने भी मदिरापान बन्द करके नगरके बाहर मदिरा फिकवा दी थी। किन्तु काल गणनामे भूल हुई। बारह वर्ष पूरे हुए जानकर यादव भी निश्चिन्त हो गये और द्वीपायन भी लौट आये। जब वह द्वारिकाके बाहर तपस्या करते थे तो कुछ यादव कुमार उधर आ निकले। नगरके बाहर पडी हुई पुरानी मदिराको पीकर वे मदोन्मत्त होकर द्वीपायनपर प्रहार करने लगे। क्रुध द्वीपायनके बाये स्कन्धसे तैजस शरीर प्रकट हुआ और द्वारिका नगरीकी पदक्षिणा करते ही द्वारिका जलकर भस्म हो गयी। पीछे द्वीपायन भी जलकर हो गया और नरकमे गया। ये क्रोध करनेका परिणाम है ॥ ८ ॥

इस प्रकार उत्तम क्षमा रूप धर्मका निरूपण करके अब उत्तम मार्दवका लक्षण कहनेके लिए मान कषायकी निन्दा करते हैं--

दैव रूपी शिल्पीके क्षमता बनाये गये कुल जाति आदिके उत्कर्षसे होनेवाले हर्षरूपी लहरोके द्वारा भाग्यहीनोका हृदयरूपी समुद्र जीवनपग्रन्त भले ही नाना रूप होवे, इससे अपनेको पुरुष माननेवालोके किसी भी विषयमे मै इस विषयमे उत्कृष्ट हूँ ऐसी सम्भावना होती है। किन्तु अपने पुत्रके द्वारा भी मानकी हानि देखी जाती है। इसलिए उस ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए जहाँ दैवका भी प्रवेश नहीं है। अतः पुरुषको माहात्म्यसे भ्रष्ट करनेवाले मानको धिक्कर है ॥ ९ ॥

विशेषार्थ--मानका तिरस्कार करते हुए कहा है कि पूर्व जन्ममे हम जो कुछ अच्छे बुरे कर्म करते हैं उसीको दैव कहते हैं। दैव एक कुशल शिल्पी है। व शोकि शिल्पीकी तरह वह कर्मके निर्माणमे कुशल होता है। उसीके उदयसे कुल, जाति आदि प्राप्त होती है जिसका मद करके मनुष्य हर्षसे उन्मत्त हो उठता है। मनुष्यका हृदय समुद्रके समान है। जैसे समुद्रमे तरंगे उठती हैं उसी तरह मनुष्यके हृदयमे कुल आदिकी श्रेष्ठताको लेकर उत्पन्न हुए हर्ष आदि उत्पन्न हुआ करते हैं। ऐसे मानी पुरुष लोकमे पुण्यशाली कहलाते हैं। किन्तु वास्तवमे पुण्यशाली नहीं है व शोकि वर्तमान जन्ममे वे कोई पुण्य कर्म नहीं करते। इसीलिए ऊपर श्लोकमे जो सुकृता पद आया है विपरीत लक्षणासे उसका अर्थ अकृत पुण्य लिया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि दैवाधीन कुल जाति आदिको पाकर हर्षसे उन्मत्त होनेवाले भले ही अपनेको पुरुष माने, किन्तु उनका वह अहंकार व्यर्थ है, व शोकि कभी-कभी मनुष्यको अपने पुत्रसे ही तिरस्कृत होना पडता है। इसलिए ज्ञानी मनुष्यको मिथ्या अहंकार छोडकर आत्म स्वरूपमे प्रवृत्ति करना चाहिए। वह दैवाधीन नहीं है, पुरुषार्थके अधीन है ॥ ९ ॥

अथहकडारादनर्थपरम्परा कथयति--

गर्वप्रतयग्नगकवलिते विश्वदीपे विवेक-

त्वष्टर्युच्चैः स्फुरितदुरित दोषमन्देहवृन्दैः ।

सत्रोदवृत्ते तमसि हतदृग जन्तुराप्तेषु भूयो,

भूयोऽभ्याजत्स्वपि सजति ही स्वैरमुमार्ग एव ॥ १० ॥

प्रत्यगनगः--अस्तशैलः । विवेकत्वष्ट रि-कृत्याकृत्याविभांगज्ञानादित्ये । तमसि--मोहान्धकरे च ।
अभ्याजत्सु--निवारयत्सु । स्वैर--स्वच्छन्दमा । ध्वान्तछादितदृष्टि ष्क्षे तु स्वेन आत्मना न परोपदेशेन, इरे
गमने । मुत--प्रीतियस्यासौ स्वैरमुत । काकुव्याख्यायां मार्गे एव सजति न सजति । कि तही आमर्गेऽपि
लगतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अथहडकार-जनितदुष्कृतषुतविष्म त्रमत्युगमपनादुःखमाख्याति--

जगद्वैचित्र्येऽस्मिन् विलसति विधौ काममनिश,
स्वतन्त्रौ न क्स्मीत्यभिनिलविशतेऽहंतितमः ।
कुधीर्येनादत्ते किमपि तदध यद्रसवशा-
च्चिरं भुङ्क्ते नीचैर्गतिमपमानज्वरभरम ॥ ११ ॥

स्वतन्त्रः--कतार । क व ? इष्टेऽनिष्टे वाऽर्थे । अपमानः--महत्त्वहानिः ॥ ११ ॥

अहंकारसे होनेवाली अनर्थपरम्पराको कहते हैं--

बडा खेद है कि जगतको प्रकाशित करनेके लिए दीपकके समान विवेक रू पी सूर्य जब
अहंकाररू पी अस्ताचलके द्वारा ग्रस लिया जाता है और राग द्वेष रू पी राक्षसोके समूहके साथ मोहरू पी
अन्धकार बरोकट ेक फैल जाता है जिसमे चोरी, व्यभिचार आदि पाप कर्म अत्यन्त बढ जाते है, तब प्राणी
दृष्ट हीन होकर बारंबार गुरू आदिकेरोकनेपर भी स्वच्छन्दतापूर्वक उन्मार्गमे ही प्रवृत्त होता है ॥ १० ॥

विशेषार्थ-क् म कर्तव्य है औरक् या अकर्तव्य है इस प्रकारके ज्ञानको विवेक कहते है । इस
विवकको अहकार उसी तरह ग्रस लेता है जैसे अस्ताचल सूर्यका ग्रस लेता है । जैसे सूर्यकेछिप जानेपर
अन्धकार फैलता है उसमे राक्षस गण विचरण करते है । पाप कर्म करनेवाले चोर, व्यभिचारी आदि
स्वच्छन्द होकर अपना कर्म करते है । ऐसे रात्रिके समयमे मनुष्यको मार्ग नही सूझता । उसी तरह जब
मनुष्यके विवेकको अहंकार ग्रस लेता है तो मनुष्यमे मोह बढ जाता है उसकी सम्यग्दृष्टि मारी जाती है ।
गुरू बार-बार उसे कुमार्गमे जानेसे रोकते है । किन्तु वह कुमार्गमे ही आसन्न रहता है । अतः अहंकार
मनुष्यको कुमार्गगामी बनाता है ॥ १० ॥ आगे अहंकारसे होनेवाले पाप कर्मके उदयके फल रू प अत्यन्त
उग्र अपमानकेदुःखको कहते हैं--

स्थांवर जंगम रू प इस जगतके भेद प्रपंचमे निरन्तर यथेष्ट रू पसे दैवके चमकनेपर किस इष्ट
या अनिष्ट पर्दाको मै स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त नही कर सकता, इस प्रकारका अर्हकारू पी अन्धकार
कुबुद्धि मनुष्यके अभिर्पायमे समा जाता है । उससे वह ऐसे अनिर्वचनीय पापका बन्ध करता है जिसके
उदयकेअधीन होकर चिरकाल तक नीच गतिमे होनेवाले अपमानरू पी ज्वरकेवेगको भोगता है ॥ ११ ॥

अथ तत्तादृगपायप्रायमानोपमर्दनचणं मार्दवमाशास्ते--

भद्रं मार्दववज्राय येन निर्लूनपक्षतिः ।

पुनः करोति मनाद्रिनोत्थानाय मनोरथम ॥ १२ ॥

मार्दव--जात्याद्यतिशयवतोऽपि

सतस्तत्कृतमदावेशाभावात्

परप्रयुक्तपरिभवनिमित्ताभिमानाभावात्मानिर्हरणम् । पक्षतिः--पक्षमूलम् । तच्चेह सामर्थ्यविशेषः ॥ १२ ॥

अथ गर्वः सर्वथाऽप्यकर्तव्य इत्युपदेष्टु संसारदुरवस्थां प्रथयति--

क्रियेत गर्वः संसारे न श्रूयेत नृपोऽपि चत ।

दैवाज्जातः कृतिर्गूथे भृत्यो नेक्ष्येत वा भवन ॥ १३ ॥

स्पष्टम् ॥ १३ ॥

विशेषार्थ--अहंकारके वशीभूत हुआ कुबुद्धि मनुष्य ऐसे पाप कर्मका बन्ध करता है जिसके फलस्वरूप उससे चिरकाल तक निगोद आदि नीच गतियोंके दुःख भोगने पडते हैं ।

कहा है--जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, ज्ञान, तप और बलका अहंकार करनेवाला मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है ॥ ११ ॥

आगे ऊपर प्रकारके दुःखोंके देनेवाले मानका मर्दन करनेमें समर्थ मार्दव धर्मकी प्रशंसा करते हैं--

उस मार्दवरूपी वज्रका कल्याण हो, जिसके द्वारा परो मलके अर्थात् शक्ति विशेषके मूलसे छिन्न हो जानेपर मानरूपी पर्वत पुनः उठने का मनोरथ नहीं करता ॥ १२ ॥

विशेषार्थ--कवि-परम्परा ऐसी है कि पहले पर्वतोंके पंख होते थे । इन्द्रने अपने वज्रसे उन्हें कट डाला । तबसे पर्वत स्थिर हो गये । उसीको दृष्ट मे रखकर ग्रन्थकारने मानरूपी पर्वतके पंख कट नेवाले मार्दव धर्मको व्रजकी उपमा दी है । जाति आदिसे विशिष्ट होते हुए भी उसके मदके आवेशके अभावसे तथा दूसरोंके द्वारा तिरस्कार किये जोनपर भी अभिमानका अभाव होनेसे मानके पूरी तरहसे हटनेको मार्दव धर्म कहते हैं ॥ १२ ॥

गर्व सर्वथा नहीं करना चाहिए, इस बातका उपदेश करनेके लिए संसारकी दुरवस्थां बतलाते हैं--

अपने द्वारा उपार्जित अशुभ कर्मके उदयसे राजा भी मरकर विष्टेका कीड़ा हुआ, यदि यह बात प्रामाणिक परम्परासे सुननेमें न आती, अथवा आज भी राजाके भी नौकरी करते हुए न देखते तो संसारमें गर्व किया जाता सकता है ॥ १३ ॥

विशेषार्थ--प्राचीन आख्यानोमें शुभाशुभ कर्मोंका फल बतलाते हुए एक राजाकी कथा आती है कि वह मरकर अपने ही पाखानेमें कीड़ा हुआ था । जब राजा भी मरकर विष्टेका कीड़ा हो सकता है तब राजसम्पदा आदि पाकर उसका अभिमान करना व्यर्थ है । यह तो शास्त्रीय आख्यान है । वर्तमान कालमें फासके राजाका सिर जनताके द्वारा कट गया । रूप समे क्रान्ति होनेपर वहाँके राजाको मार डाला गया और उसके परिवारको आजीविकाके लिए भूट कना पडा । भारतमें स्वतन्त्रताके बाद राजाओंके सब

अधिकार समाप्त कर दिये गये और उनकी सब शान-शौकत धूलमे मिल गयी। ये सब बाते सुनकर और देखकर भी जो धमण्ड करता है उसकी समझपर खेद होता ही है ॥ १३ ॥

१. जातिरू पकुलैश्वर्यशीलज्ञानपतपोबलैः ।
कुर्वाणोऽहं कृति नीचं गोत्र बध्नाति मानवः ॥

अथ मानविजयोपायमधस्तनभूमिकायां सद्ब्रतैः कर्मोच्चेदाथमभिमानोत्तेजनं चोपदिशति-

प्राच्यानेदंयुगीनानथ परमगुण ग्रामसामृद्धयसिद्धा-
नध्दा ध्यायन्निरुन्ध्यान्मदिमपरिणतर्ः शिर्मदं दुर्मदारिर्म्^६
छेतु दौर्गत्यदुःखं प्रवरगुरुगिरा संगरे सद्ब्रतातस्त्रैः,
क्षेप्तु कर्मारिचक्रं सुहृदमिव शितैर्दीपयेद्वाभिमानम्^६ १४^६

शिर्मदं-मर्मदं मर्मव्यथकम्^६ दौर्गत्यं-दुर्गतिभावं दारिद्र्य च^६ संगरे-प्रतिज्ञायां संग्रामे च^६ १४^६

अथ मार्दवभवनाभिभूतस्यापि गर्वस्य सर्वथेच्छेदः शुक् ऋष्यानप्रवृत्त्येव स्यादित्युपदिशति-

मार्दवाशनिर्निलूनपक्षो मायाक्षितिं गतः^६
योगाम्बुनैव भेद्योऽन्तर्वहता गर्वपर्वतः^६ १५^६

नीचेकी भूमिकामें मानको जीतनेका उपाय बतलाते हुए समीचीन व्रतोंके क्ष्वारा कर्मोंका उच्छेद करनेकेलिए अभिमानको उत्तेजित करनेका उपदेश देते हैं-

मार्दव धर्मसे युक्त होकर, परम गुणोंके समूहकी समृद्धिके कारण प्रसिद्ध पूर्व पुरुषोंका और इस युगके साधुओंका तत्त्वतः ध्यान करते हुए मर्मभेदी दुःख देनेवाले अहंकाररूपी शत्रुको दूरहट ला चाहिए^६ अथवा दुर्गति सम्बन्धी दुःखका निवाश करनेके लिए और निरतिचार व्रतरूपी तीक्ष्ण अस्त्रोंके क्षरा इतनावरण आदि कर्म शत्रुओंके समूहको भगानेके लिए सद्गुरुके वचनोंसे प्रतिज्ञामें स्थिर होकर मित्रकी तरह अभिमानको उत्तेजित करना चाहिए^६ १४^६

विशेषार्थ- अहंकार शत्रुकी तरह बहुत अनिष्ट करनेवाा होनेसे शत्रुके तुल्य है^६ अतः उसके रोकनेका एक उपाय तो यह है कि जो पूर्व पुरुष या वर्तमान साधु ज्ञान, विनय, दया, सत्य आदि गुणोंसे सम्पन्न हैं उनकेगुणोंका ध्यान करें^६ दूसरा उपाय इस प्रकार है- जैसे कोई वीर योद्धा दारिद्र्यकेदुःखोंको दूर करनेके लिए अपने मन्त्रियोंके कहनेसे युद्धके विषयमें तीक्ष्ण शस्त्रोंसे प्रहार करनेके लिए तत्पर शत्रु

सैन्यको नष्ट करनेकी इच्छासे अपने मित्रको ढक ढा देता है उसी तरह साधु दुःखतिके दुःखको दूर करनेके लिए सद्गुरुके वचनोंसे प्रतिज्ञा कर कर्मोंके खल्लयमें समर्थ निर्मल अहिंसा आदि व्रतोंके क्षरा कर्मरूपी शत्रुओंके समूहका विनाश करनेके लिए अभिमान मुमुक्षुके लिए कर्तव्य बताया है^१ सारांश यह है कि य'पि अहंकार या मद या गर्व या अभिमान बुरे हैं किन्तु अहंकारके कारण जो कर्मशत्रु हैं उनको नष्ट करनेका संकपरूप अभिमान बुरा नहीं है^१ नीचेकी अवस्थामें इस प्रकारका संकप करकेही साधु अहंकारका मूलसे विनाश करनेमें समर्थ होता है^{१४}

आगे कहते हैं कि यद्यपि मार्दव धर्मकी भावनासे गर्वदब जाता है किन्तु उसका सर्वथ विनाश शुभ्र ध्यानकसे ही होता है -

मार्दवरूपी वज्रके द्वारा पंखोंके कट जानेपर मायारूपी पृथ्वीपर पड़े हुए गव्ररूपी पव्रतका भेदन अनतरंगमें बहते हुए योगरूपी जलसे ही होता है^{१५}

अवर्णमायेत्यादि^१ क्षपकश्रेण्यां हि मायासंज्वलने प्रक्षिपय शुक् ध्यानविशेषेण माः किलोन्मूल्यते^{१५}

अथ मानान्महतामपि महती स्वाश्रक्षमिक्षयस्तदुच्छेदाय मार्दवभावनां मुमुक्षेरवश्यकर्तव्यतयोपदिशति--

मानोऽवर्णमिवापमानमभितस्तेनेऽर्ककीर्तेस्तथ,
मायाभूतिमचीकरत्सगरजान् ष्छाष्टिं सहस्त्राणि तान्^१
तत्सौनन्दमिवादिष्ट् परमरं मानग्रहान्मोचयेतद,
तनवन्मार्दवमाप्नुयात् स्वयमिमं चोच्छिद्य तद्वमिच्छवम्^{१६}

अवर्ण-अयशः शोभाभ्रंशं वा^१ तथा-तेन आर्षप्रसिध्देन प्रकारेण^१ मायाभूतिं- वास्तवभस्म^१ अचीकरत्- मणिकेत्तुनाम्ना देवेन कारयतिस्म^१ सगरजान्-सगरचक्रवर्तिपुत्रान्^१ षष्टिं सहस्त्राणि पद्मे सहस्त्रपत्रव्यपदेशवत् प्रायिकमेतत्^१ तेन भीमभगीरथाभ्यां विनापि तद्भदसमीकरणे ष्छाष्टि सहस्त्रसंखावचनं न

विशेषार्थ-आशय यह है कि जैसे इन्द्रके क्षरा छोड़े गये वज्रके प्रहारसे पक्षोंके कट जानेपर भूतलपर गिरे हुए पवर्चतको उसके मध्यसे बहनेवाला जल ही विदारित कर सकता है वैसे ही मार्दव भवनाके क्षरा यद्यपि मान कषायकी शक्ति संज्वन मान कषयरूप हो जाती है किन्तु उसका विनाश आत्मामें सतत वर्तमान पृथक् त्व वितर्क विचार नामक शुक् त्ध्यानके क्षरा ही होता है^१ क्योंकि क्षपक श्रेणीमें शुक् त्ध्यानके द्वारा मान कषयको माया संज्वलन कषयमें प्रक्षेपण करके उसकी सत्ताका विनाश किया जाता है^{१५}

मानसे महापुरुषोंके भी स्वार्थकी महती क्षति होती है यह बताते हुए उसके विनाश के लिए मुमुक्षुको मार्दव भवना अवश्यक करनेका उपदेश देते हैं-

मानसे सम्रट् भरतके पुत्र अर्ककीर्तिका सब ओर उपयशके साथ अपमानका विस्तार हुआ यह बात आगममें प्रसिद्ध है तथ मानके कारण मणिकेतु नामक देवने सगरके साठ हजार पुत्र-पौत्रोंको मायामयी भस्मके रूपमें परिणत कर दिया इसीए जैसे सम्रट् भरतने बाहुबलि कुमारको मानरूपी भूतसे छुड़ाया उसी तरह साधुको भी चाहिए कि वह किसी कारणसे अभिमानके चंगुलमें फँसे दूसरे मनुष्यको शीघ्र ही अहंकाररूपी भूतके प्रभावसे छुड़ाने तथा माद्रव भावनाको भते हुए भरत सम्रट् की तरह स्वयं भी इस मानका उच्चेदन करके शिवको-अभ्युदय और मोक्षको प्रापत करे १६

विशेषार्थ-महापुराणमें कहा है कि काशिराज अकम्पनने अपनी पुत्री सुलोचनाका स्वयंवर किया सुलाचनाने कौरव पति जयकुमारके गेमें वरमा डाली इसपर सम्रट् भरतका पुत्र अर्ककीर्ति उत्तेजित हो गया और उसने अहंकारसे भरकर जयकुमारके साथ युद्ध किया उसमें वह परास्त हुआ और सब ओर उसका अपश्यश फैला सगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र-पौत्र थे वे बड़े अभिमानी थे और चक्रवर्तीसे कोई काम करनेकी अनुज्ञा माँगा करते थे एक बार चक्रवर्तीने उनहें आज्ञा दी कि कैस पर्वतपर सम्रट् भरतके द्वारा बनवाये गये जिनायोंकी रक्षाके लिए उसके चारों ओर खाई खोदकर गंगाके पानीसे भर दिया जाये जब वे इस काममें संगन थे, एक देवने उनहें अपनी मायासे भस्म सरीखा कर दिया पीछे उनहें जीवित कर दिया ये दोनों कथानक त पुराणमें वर्णित हैं अतः साधुका कर्तव्य है कि जैसे सम्रट् भरतने बाहुबीको अहंकारसे मुक्त करके कयाणके

१६

विरुध्यते । तत् आर्षे प्रसिद्ध । एतेन सगरात् साक्षादसाक्षाच्च जाता सगरजा इति पुत्रवत् पौत्राणामप्यार्षा-
विरोधेन ग्रहणं लक्षयति । सौनन्दं --- सुनन्दाया अपत्यं बाहुबलिनम् । आदिरट् --- भरतः । शिवम् । तथा
चोक्त्--

ध्मार्दवोपेतं गुरवोऽनुगृह्णन्ति । साधवोऽपि साधु मन्यन्ते । ततश्च सम्यग्ज्ञानादीनां
पात्रीभवति । अतश्च स्वर्गापवर्गफलावाप्तिरिति ॥

[तत्त्वार्थवा., ९।६।२८] ॥१६॥

अथार्जवस्वभावं धर्म व्याकर्तुकामस्तदेकनिराकार्या निकृतिमनुभावतोऽनुवदन्नाकह ----

क्रेधादीनसतोऽपि भासयति या सद्वत् सतोऽप्यर्थतो ---

ऽसद्वद्दोषधियं गुणेष्वपि गुणश्रद्धां च दोषेष्वपि ।

या सूते सुविधयोऽपि विभ्रममयते संवृण्वती यात्यणू ---

न्यप्यभ्यूहपदानि सा विजयते माया जगद्व्यापिनी ॥ १७ ॥

सद्वत् --- उद्भूतानिवं । अर्थत् :--- प्रयोलनामाश्रित्य । अत्यणूनि --- अतीव सूक्ष्माणि ॥१७॥

अथेहामुत्र च मायायाः कुत्सा कृच्छेकनिबन्धनत्वमवबोधयति ---

मार्गमें लगाया और स्वयं भी अपनेको अहंकारसे मुक्त करके कल्याणके मार्गमें लगे । उसी तरह दूसरोंको और स्वयंको भी अहंकारसे छुड़ाकर कल्याणके मार्गमें लगाना और लगना चाहिए । आगममें मार्दव बड़ी प्रशंसा की गयी है । तत्त्वार्थवार्तिक (९।६।२८) में अकलक देवने कहा है ---मार्दव भावनासे

युक् च शिष्यपर गुरुओकी कृपा रहती है । साधु भी उसे साधु मानते हैं । उससे वह सम्यग्ज्ञान आदिका पात्र होता है । सम्यग्ज्ञान आदिका पात्र होनेसे स्वर्ग और मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है । इस प्रकार उत्तम मार्दव भावनाका प्रकरण समाप्त हुआ ॥१६॥

अब आर्जव धर्मका कथन करनेकी इच्छासे उसकेद्वारा निराकरणीय मायाचार की महिमा बतलाते हैं ---

जो माया प्रयोजनवश क्रोध आदिके नहीं होते हुए भी क्रोधादि है ऐसी प्रतीति कराती है और क्रोध आदिके होते हुए भी क्रोधादि नहीं है ऐसी प्रतीति कराती है । यथा गुणोंमें भी दोष बुद्धि कराती है और दोषोंमें भी गुण बुद्धि कराती है । तथा जो अत्यन्त सूक्ष्म भी विचारणीय स्थानोंको ढँकती हुई विद्या सम्पन्न बुद्धिमानोंको भी भ्रमसे डाल देती हैं वह संसारव्यापी माया सर्वत्र विजयशील है ॥१७॥

विशेषार्थ --- मनमें कुछ, वचनमें कुछ और कार्य कुछ इस प्रकार मन- वचन- कायकी कुटिलताका नाम माया है । यह माया संसारव्यापी है । इसके फन्देसे विरले ही निर्मल हृदय पुरुष बचे हुए हैं । अन्यथा सर्वत्र उसका साम्राज्य है । मतलबी दुनिया अपना मतलग निकालनेके लिए इस मायाचारका खुलकर प्रयोग कराती है । दुनियाको उगनेके लिए दुर्जन भी सज्जनका बाना धारण करते हैं , चोर और डाकू साधुके वेशमें घूमते हैं । बनावटी क्रोध करके भी लोग अपना काम निकालते हैं जिससे काम नहीं निकालता उस गुणीको भी दोषी बतलाते हैं और जिससे काम निकालता है उस दोषीको भी गुणी बतलाते हैं । यह सब स्वार्थकी महिमा है और मायाचार उसका सहायक होता है ॥१७॥

यह माया इस लोक और परलोकमें एकमात्र दुःखका ही कारण है, यह बतलाते हैं ---

यः सोढु कष्टीत्यकीर्तिभुजगीमीष्टे श्रवोन्तश्चरी,
सोपि प्रेत्य दुरत्ययात्ययमयी मायोरगीमुञ्जुत ।
नो चेत् स्त्रीत्वनपुंसकत्वविपरीणामप्रबन्धार्पित
ताच्छील्यं बहुं धातुकेलिकृतपुंभावोऽप्यभिव्यङ्क्ष्यति ॥१८॥

श्रवोन्तश्चरी --- कर्णान्तरचारिणीम् । प्रेत्य --- परलोके । दुरत्ययात्ययमयी---
दुरतिकमापायबहुलाम् । ताच्छील्यं --- स्त्रीनपुंसकस्वभावतां भावस्त्रीत्वं भावनपुंसकत्वं चेत्यर्थः ।
तल्लिङ्गानि यथा ---

श्राणिमार्दववत्रस्तत्व- मुग्धत्वम् तीवतास्तनाः ।
पुंस्कामेन समं सप्त लिङ्गानि स्त्रैणसूचने ॥
खरत्व- मेहनस्ताब्ध- शौण्डीर्यश्मश्रुधृष्ट ताः ।
स्त्रीकामेन समं सप्तलिङ्गानि पौस्नवेदने ॥
यानि स्त्रीपुंसलिङ्गानि पूर्वाणीति चतुर्दश ।
श्राव्यनि (सर्वाणि) तानि मिश्राणि षष्ठ्य भावनिवेदने ॥

अत्र मानसा भावभावस्य शारीराश्च द्रव्यस्य सूचका इति विभागः।

अभिव्यङ्क्ष्यति --- अभिव्यङ्क्त्वं करिष्यति ॥१८॥

घृह कष्टी हैडड इस प्रकारकी अपकीर्तिरूपी सर्पिणीको कानोंके भीतर घूमते हुए सहन करनेमें जो समर्थ है, वह भी परलोकमें दुःखसे टारे जाने योग्य कष्टसे भरपूर मायारूपी नागिनको छोड देवे । यदि उसने ऐसा नहीं किया तो दैवको द्वारा क्रीडावश पुरुषत्व भावको प्राप्त होकर भी वह स्त्रीत्व और नपुंसकत्व रूप प्रचुर भावोको ही व्यक्त करेगा ॥१८॥

विशेषार्थ ---- वेद या लिंग तीन होते हैं --- पुरुषभेद, स्त्रीभेद और नपुंसकवेद । ये तीनों भी दो-दो प्रकारके होते हैं --- द्रव्यरूप और भावरूप । शरीरमें जो स्त्री- पुरुष आदिके चिह्न होते हैं उन्हें द्रव्यवेद कहते हैं और मनके विकारको भाववेद कहते हैं । नाम कर्मके उदयसे द्रव्यवेदकी रचना होती है और नोकषायके उदयसे भाववेद होता है । ये द्रव्यवेद और भाववेद प्रायः समान होते हैं किन्तु कर्म भूमिके मनुष्य और तिर्यचोमें इनकी विषमता भी देखी जाती है । अर्थात् जो द्रव्यरूपसे स्त्री है वह भावरूपसे स्त्री या पुरुष या नपुंसक होता है । जो द्रव्यरूपसे पुरुष है वह भावसे पुरुष या स्त्री या नपुंसक होता है । जो द्रव्यरूपसे नपुंसक होता है वह भावसे नपुंसक या स्त्री या पुरुष हात है । इस तरह नौ भेद होते हैं यह विचित्रता मायाचार करनेका परिणाम हैं । जो मायाचार करते हैं उनके साथ कर्म भी खेल खेलता है कि शरीरसे तो उन्हें पुरुष बनाता है किन्तु भावसे या तो वे स्त्री होते हैं या नपुंसक होते हैं । यह उक्त श्लोकका अभिप्रय है ॥१८॥

या स्त्री द्रव्यरूपेण भावेन साऽस्ति स्त्री ना नपुंसकः।

पुमान् द्रव्येण भावेन पुमात्र नारी नपुंसकः॥

संढो द्रव्येण, भावेन संढो नारी नरो मतः।

इत्येवं नवधा वेदो द्रव्यभावविभेदतः। --- अमित.प.सं. १।१९३- १९४ ।

अथ मायादिनो लोकेऽत्यन्तमविश्वास्यतां प्रकाशयति ---

यो वाचा स्वमपि स्वान्तं वाचं वञ्चयतेऽनिशम् ।

चेष्ट या च स विश्वास्यो मायावी कस्य धीमतः ॥१९॥

य इत्यादि । यन्मनस्यस्ति तन्न वदति, यच्च वदति तन्न कायेन व्यवहरतीति भावः॥१९॥

अथार्जवशीलानां सम्प्रति दुर्लभत्वमाह ---

चित्तमन्वेति वाग् येषां वाचमन्वेति च किया ।

स्वपरानुग्रहपराः सन्तस्ते विरलाः कलौ॥२०॥

अन्वेति- -- अनुवर्तते ॥२०॥

अथार्जवशीलानां माहात्म्यमाह ---

आर्जवस्फूर्जदूर्जस्काः सन्तः केऽपि जयन्ति ते।

ये निगीर्णत्रिलोकायाः कृन्तन्ति निकृतेर्मनः॥२१॥

ऊर्ज --- उत्साहः ॥२१॥

अथार्जवनिर्जितदुर्जयमायाकषायाणां मुद्गितवर्त्मनि निष्प्रतिबन्धा प्रवृत्तिः स्यादित्युपदिशति ---

दुस्तरार्जवनावा येस्तीर्णा मायातरङ्गिणी ।

इष्ट स्थानगतौ तेषां कः शिखण्डी भविष्यति ॥२२॥

शिखण्डी --- विघ्नः॥२२॥

अथ मायाया दुर्गतिः तेशावेशदुस्सह- गर्हानिबन्धनत्वमुदाहरणद्वारेण प्रणिगदति ---

मायावीका लोकमें किंचित् भी विश्वास नहीं किया जाता, इस बातको प्रकाशित करते हैं ---

जो मायावी अपने ही मनको वचनोसे और अपने वचनोंको शारिरीक व्यापारसे रात- दिन ठगा करता है ---व योकि जो मनमें है वह कहता नहीं है और जो कहता है वह करता नहीं है --- उसका विश्वास कौन समझदार कर सकता है॥१९॥

इस समय सरल स्वभावियोकी दुर्लभता बतलाते हैं ---

जिनके वचन मनके अनुरूप होते है और जिनकी चेष्टा वचनके अनुरूप होती है अर्थात् जैसा मनमें विचार करते हैं वैसा बोलते हैं और जो कहते हैं वही करते हैं , ऐसे अपने और दूसरोंके उपकारमें तत्पर साधु इस कलि कालमें बहुत स्वल्प हैं ॥२०॥

सरल स्वभावियोंका माहात्म्य बतलाते हैं ---

जो तीनों लोकांको अपने उदरमें रखनेवाली अर्थात् तीनों लोकोंके जीतनेवाली मायाके हृदयको भी विदारण कर देते हैं , वे सरल स्वभावी उत्साही लोकोत्तर साधु जयशील होते हैं, उनका पद सबसे उत्कृष्ट होता है ॥२१॥

आगे कहते हैं कि आर्जव धर्मसे दुर्जय माया कषाकसे जीतनेवालोंकी मोक्षमार्गमें बेरोक प्रवृत्ति होती है ---

जिन्होंने आर्जव धर्मरूपी नावके द्वारा दुस्तर मायारूपी नदीको पार कर लिया है उनके इष्ट स्थान तक पहुँचनमें कौन बाधक हो सकता है ॥२२॥

माया दुर्गतियोंके कष्ट और असह्य निन्दाका कारण है, यह बात उदाहरणके द्वारा बताते हैं ---

खलूक्त्वा हत्कर्णक्रक्चमखलानां यदतुलं,

किलंक्त्वा तेशं विष्णोः कुसृतिरसृजत् संसृतिसृतिः ।

हतोऽश्वत्थामेति स्ववचनविसंवादितगुरु ---

स्तपः सूनुम्लनिः सपदि श्रृणु सभ्दयोन्तरधितः॥२३॥

खलूक्त्वा --- नोच्यते तत् साधुभिरिति संबन्धः। अखलानां --- सज्जनानाम् । किल --- आगमे लोके वा श्रूयते । कुसृतिः--- वञ्चना। संसृतिसृतिः --- संसारस्योपायभूता अनन्तानुबन्धिनीत्यर्थः। अश्वत्थामा---द्रोणाचार्यपुत्रौ हस्तिविशेषश्चा विस्वादिताः --- कुञ्चरो न नर इत्युक्त्वा विप्रलम्बितः ।

गुरुः--- द्रोणाचार्यः। तपःसूनुः--- युधिष्ठिरः। सभ्योन्तरधितः--- साधुभिरदर्शनामात्मन इच्छित स्मा सन्तो
मां मा पश्यन्तु इत्यन्तर्हितोऽभूदित्यर्थः। घसभ्ययड इत्यत्र घ्येनादर्शनमिच्छतिड इत्यनेन फ चमी ॥२३॥

अथ शौचरुपं धर्म व्याचिख्यासुस्तदेकप्रत्याख्येयस्य सन्निहितविषयगर्ध्वयौत्पादलक्षणस्य लोभस्य सर्व-
पापमूलत्व- सर्वगुणभ्रंशकत्वप्रकाशनपूर्वकं कृशीकरणमवश्यकरणीयतया मुमुक्षुणामूपदिशति---

लोभमूलानि पापानीत्येतद्यैर्न प्रमाण्यते ।

स्वयं लोभाद् गुणभ्रंशं पश्यन्तः श्यन्तु तेऽपि तम् ॥२४॥

हे साधुओ! सुनो! संसार मार्गको बढ नेवाली अनन्तानुबन्धी मायाने विष्णुको जो असाधारण कष्ट
दिया, जैसा कि लोकमें और शास्त्रमें कहा है , वह सज्जनोके हृदय और कानोको करौतकी तरह
चीरनेवाला है । इसलिए साधुजन उसकी चर्चा भी नहीं करते । तथा अश्वत्थामा मर गयाड इस प्रकारके
वचनोंसे अपने गुरु द्रोणाचार्यको भुलावमें डालनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरका मुख तत्काल मलिन हो गया
और उन्होनें साधुओंसे अपना मुँह छिपा लिया ॥२३॥

विशेषार्थ --- श्रीकृष्णकी द्वारिका द्वीपायनके क्रोधसे जलकर भस्म हो गयी । केवल श्रीकृष्ण और
बलदेव दोनों भाई बचे । श्रीकृष्णको प्यास लगी तो बलदेव पानीकी खोजमें गये । इधर जरत्कुमारके
बाणसे श्रीकृष्णका अन्त हो गया । यह सब महाभारतके युद्धमें श्रीकृष्णकी चतुराई करनेका ही फल है ।
उन्हींके ही उपदेशसे सत्यवादी युधिष्ठिरको झूठ बोलना पडी ।क शोकि द्रोणाचार्यके मरे बिना पाण्डवोका
जीतना कठिन था । अतः अश्वत्थामाके मरणकी बात युधिष्ठिरके मुखसे कहलायी;क शोकि वे सत्यवादी थे ।
उनकी बातपर द्रोणाचार्य विश्वास कर सकते थे । उधर अश्वत्थामा द्रोणाचार्यका पुत्र था और एक
हाथीका नाम भी अश्वत्थामा था। हाथी मरा तो युधिष्ठिरने जोरसे कहा, अश्वत्थामा मारा गया । साथ ही
धीरेसे यह भी कह दिया किन जाने मनुष्य है या हाथी,ड । द्रोणाचार्यके तत्काल प्राण निकल गये ।
युधिष्ठिरको बडा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने अपना मुख छिपा लिया कि उसे कोई सत्पुरुष न देखे । यह
सब मायाचारका फल है ॥२३॥

इस प्रकार उत्तम आर्जव भावना प्रकरण समाप्त हुआ ।

आगे ग्रन्थकार शौचधर्मका कथन करना चाहते हैं । उसमें सबसे प्रथम त्यागने योग्य है लोभ ।
निकट वर्ती पदार्थोंमें तीव्र चाहको उत्पन्न करना लोभका लक्षण है । यह लोभ सब पापोंका मूल है, सब
गुणोंको नष्ट करनेवाला है । इसलिए मुमुक्षुओंको अवश्य ही लोभको कम करना चाहिए, ऐसा उपदेश
देते हैं ---

जो लोग लोभ पापोका मूल हैं इस लोक प्रसिद्ध वचनको भी प्रमाण नहीं मानतें, वे भी स्वयं
लोभसे दया- मैत्री आदि गुणोंको विनाश अनुभव करके उस लोभको कम करें ॥२४॥

गुणाः--- दयामैत्रीसाधुकारदयः ।व्यासोऽप्याह ---

धूमिष्ठोऽपि रथस्थास्तान् पार्थः सर्वधनुर्धरान् ।
एकोऽपि पातयामास लोभः सर्व गुणानिव ॥ []

श्यन्तु --- कृशरीकुर्वन्तु ॥२४॥

अथ गुणलक्षशतेन समकक्षमप्यौचित्यमत्यन्तलुब्धस्य नित्यमुद्वेजनीयं स्यादित्युपदिशति ---

गुणाकोटं वा तुलाकांतिं यदेकमपि टिकते ।
तदप्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य गरलायते ॥२५॥

तुलाकोटिं --- ऊर्ध्वमानान्तमुपमोत्कर्षं च । टिकते --- च्छति । औचित्यं --- दानं - प्रियवचनाभ्यामन्यस्य
सन्तोषोत्पादनम् । ऊ तं चं ----

छौचित्यमेवमेकत्र गुणानां राशिरेकतः।
विषायते गुणग्राम औचित्यपरिवर्जितः [] ॥२५॥

अथ स्वपराजीवितारोग्येन्द्रियोपभोगविषयभेदसदृश विधेनापि लोभेनाकुलितः सातत्येन सर्वमकृत्यं
करोतीत्युपदिशति ----

उपभोगेन्द्रियारोग्यप्राणान् स्वस्य परस्य च ।
गृध्रन् मुग्धः प्रबन्धेन किमकृत्यं करोति न ॥ २६॥
अकृत्यं ---- गुरुपितृवधादिकम् ॥२६॥

विशेषार्थ ---- लोभ पापका मूल है यह उक्ति त्र लोंकमें प्रसिद्ध है । फिर भी जो इसे नहीं मानते वे
स्वयं अनुभव करेंगे कि लोभसे किस प्रकार सद्गुणोंका नाश होता है । व्यासजीने भी कहा है ----
भूतिपर खड़े हुए भी अकेले अर्जुनने रथमें बैठे हुए उन सभी धनुषधारियोंको उसी तरह मार गिराया जैसे
लोभ सब गुणोंको नष्ट कर देता है । इस दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि लोभ सब गुणोंका नाशक है ॥२४॥

आबे कहते हैं कि औचित्य नामक गुण करोड गुणोंके समान है फिर भी वह अत्यन्त लोभी को
कष्ट दायक होता है ----

जो अकेला भी औचित्य गुण एक करोड गुणोंकी तुलनामें भारी पडता है वही औचित्य गुण
अत्यन्त लोभी मनुष्यको विषकेतुल्य प्रतीत होता है ॥२५॥

विशेषार्थ ---- दान द्वारा तथा प्रिय वचनोंकेद्वारा दूसरेको सन्तुष्ट करनेका नाम औचित्य गुण है । इस गुणकी बड़ी महिमा है । कहा है ---- एक ओर एक औचित्य गुण और दूसरी ओर गुणोंकी राशि । औचित्य गुणके बिना गुणोंकी राशि विष तुल्य प्रतीत होती है । यदि मनुष्यमें प्रिय वचनोंके द्वारा भी दूसरेको सन्तोष दिलानेकी क्षमता न हो तो उसमें सभी गुण व्यर्थ हैं । किन्तु लोभी मनुष्य दान देना तो दूर, प्रिय वचनोंके द्वारा भी दूसरेको सन्तुष्ट करना नहीं चाहता । उसे किसी भी प्रार्थीका आना ही नहीं सुहाता

॥२५॥ स्वजीवन, परजीवन, आरोग्य और पाँचो इन्द्रियोंके उपभोग इन आठ विषयोंकी अपेक्षा लोभसे आठ भेद होते हैं । इन आठ प्रकारके लोभोंसे व्याकुल मनुष्य सभी न करने योग्य काम करता है ऐसा कहते हैं ---

अपने और अपने स्त्री- पुत्रादिकेइष्ट विषयोंको, इन्द्रियोंको, आरोग्यको और प्राणोंको

अथ लोभपरतन्त्रस्य गुणभ्रंशं व्याचष्टे ---

तावत्कीत्यै स्पृहयति नरस्तावदन्वेति मैत्री,

तावद्धृतं प्रथयति विभर्त्याश्रितान् साधु तावत् ।

तावज्जानात्युपकृतमघाच्छक्त्वे तावदुच्चै ---

स्वावन्मानं वहति न वशं याति लोभस्य यावत् ॥२७॥

अन्वेति --- अविच्छेदेन वर्तयति ॥२७॥

अथ लोभविजयोपायसेवाया शिवार्थिनः सज्जयन्नाह ---

प्राणेशमनु मायाम्बां मरिष्यन्ती विलम्बयन् ।

लोभो निशुम्भते येन तद्भजेच्छौचदैवतम् ॥२८॥

प्राणेशमनु --- स्वपराभेदप्रत्ययलक्षणन मोहेन भर्त्रा सह। मायाम्बां --- वञ्चनामातरम् । मरिष्यन्ती--- मरणोन्मुखी । विलम्बयत् --- अवस्थापयत् । नारी हि स्वभर्त्रा सह मर्तुकामा पुत्रेण धार्यत इत्युक्ति तलेशः । शौचं--- प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्ति । मनोगुप्तौ मनसः परिस्पन्दः सकलः प्रतिषिध्यते । तत्राक्षमस्य परवस्तुष्व- निष्ट प्रणिधानोपरमः शौचमिति । ततोऽस्य भेदः ॥ २८॥

अथ सन्तोषाभ्यासनिरस्ततृष्णस्यात्मध्यानापयोगोद्योगमुद्योतयन्नाह ---

अत्यन्त चाहनेवाला मूढ मनुष्य लगातार कौन न करने योग्य काम नहीं करता ? अर्थात् सभी बुरे काम करता है ॥२६॥

आगे कहते हैं कि लोभीकेगुण नष्ट हो जाते हैं ---.

मनुष्य तभी तक यश की चाह करता है , तभी तक मित्रताका लगातार पालन करता है, तभीतक चारित्रको बढाता है, तभी तक आश्रितोंका सम्यक् रीतिसे पालन करता है, तभी तक किये हुए उपकारको

मानता है, तभी तक पापसे डरता है, तभी तक उच्च सन्मानको धारण करता है जबतक वह लोभके वशमें नहीं होता। अर्थात् लोभके वशमें होनेपर मनुष्यके उक्त सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥२७॥

आगे मुमुक्षुओंको लोभको जीतनेके उपायोंकी आराधनामें लगाते हैं ---

अपने पति मोहके साथ मरनेकी इच्छुक मायारूपी माताको मरनेसे रोकनेवाला लोभ जिनके द्वारा निगृहीत किया जाता है उस शौचरूपी देवताकी आराधना करनी चाहिए ॥२८॥

विशेषार्थ --- स्त्री यदि पतिके साथ मरना चाहती है तो पुत्र उसे रोकता है। लोभका पिता मोह है और माता माया है। जब मोह मरता है तो उसके साथ माया भी मरणोन्मुख होती है। किन्तु लोभ उसे मरने नहीं देता। इसलिए लोभका निग्रह करनेके लिए शौच देवताकी आराधना करनी चाहिए। यहाँ शौचको देवता इसलिए कहा है कि देवताको अपने आश्रितका पक्षपात होता है। अतः जो शौचका आश्रय लेते हैं शौच उन्हें लोभके चंगुलसे छुड़ा देता है। लोभकी सर्वोत्कृष्ट निवृत्तिको शौच कहते हैं। मुनिगुप्तिमें तो मनकी समस्त प्रवृत्तियोंको रोकना होता है। जो उसमें असमर्थ हाता है उसका परवस्तुओंमें अनिष्ट संकल्प -विकल्प न करना शौच है। इसलिए मनोगुप्तिसे शौच भिन्न है ॥२८॥

जो सन्तोषका अभ्यास काके तृष्णाको दूर भगा देते हैं उनके आत्माध्यानमें उपयोग लगानेके उद्योगको प्रकट करते हैं ---

अविद्यासंस्कार - प्रगुणकरण--- ग्रामशरणः,

परद्रव्यं गृध्नुः कथमहमधोधश्चिरमगाम् ।

तदद्योद्यद्विद्यादृत्तिसुधास्वादहतत् ---

इरः स्वध्यात्योपर्युपरि विहाराम्येष सततम् ॥२९॥

प्रगुणः--- विषयग्रहणाभिमुखाशरणं ---- आश्रयः। गृध्नुः --- अभिलाषुकः। स्वध्यात्या --- आत्मनि संतत्या वर्तमानया निर्विकल्पनिश्चलया बुध्दया। तदुक्त्म् ---

छद्द्रे ध्येये स्थिरा बुध्दिर्या स्यात्संतानवर्तिनी।

ज्ञानान्तरापरां गृह्णति सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता [तत्वानु.,७२ श्लसे.] ॥२९॥

अथ शौचमहिमानमभिष्टेति ---

निर्लोभतां भगवतीमभिन्दामहे मुहूः।

यत्प्रसादात्सतां विश्वं शश्वभ्दातीन्द्रजालवत् ॥३०॥

इन्द्रजालवत् --- इन्द्रजालेन तुल्यमनुपभोग्यत्वात् ॥३०॥

आत्मा और शरीरमें अभेदज्ञान रूप अविद्याके संस्कारमें अपने- अपने विषयोंका गंहण करनेमें संलग्न इन्द्रियाँ ही अनादिकालसे मेरे लिए शरण थी। अतः परद्रव्यकी चाहसे मैं किस प्रकार नीचे - नीचे जाता रहा। अब उत्पन्न हुई शरीर और आत्माके भेदज्ञानरूप विद्याका सारभूत जो सन्तोषरूप अमृत है, उसके आस्वादसे मेरा तृष्णारूपी विष दूर हो गया है। अतः अब वहीं मैं आत्मामें लीन निर्विकल्प निश्चल ध्यानकेद्वारा निरन्तर ऊपर - ऊपर विहार करता हूँ ॥२९॥

विशेषार्थ --- आत्मा और शरीरमें एकत्वबुद्धि होनेसे अथवा शरीरको ही आत्मा माननेसे यह जीव विषयासक्त त इन्द्रियोंको ही सब कुछ मानकर उन्हींमें लीन रहता है। इसीसे उसका पतन होता है और संसारका अन्त नहीं आता। वह रात- दिन परद्रव्यको प्राप्त करनेके उपायोंमें ही फँसा रहता है। कितना भी द्रव्य होनेसे उसकी तृष्णा तृप्त होनेकेबदले और बढ़ ती है। इसके विपरीत जब वह शरीर और आत्माके भेदको जान लेता है तो उस भेदज्ञानके निचोडसे उसे असन्तोषके स्थानमें सन्तोष होता है और उससे उसकी तृष्णा शान्त हो जाती है। तब वह आत्माके निर्विकल्प स्थानमें मग्न हाकर उत्तरोत्तर मोक्षकी ओर बढ़ ता हैं। ध्यानका स्वरूप इस प्रकार कहा है ---- भावसाधनमें ध्यातिको ध्यान कहते हैं। और सन्तानक्रमसे चली आयी जो बुद्धि अपने इष्ट ध्येयमें स्थिर होकर अन्य ज्ञानके परामशसे रहित होती है अर्थात् निर्विकल्प रूपसे आत्मामें निश्चल होती है उसे ही ध्याति करते हैं। यही ध्यान है ॥२९॥

शौचके माहात्म्यकी प्रशंसा करते हैं ---

जिसके प्रसादसे शुद्धोपयोगमें निष्ठ साधुओंको सदा यह चराचर जगत् इन्द्रजालके तुल्य भासमान होता है उस भगवती निर्लोभताको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥३०॥

एक कथानककेद्वारा लोभका माहात्म्य कहते हैं ----

तादृक्षे जमदग्निमिष्टि नमृषिं स्वस्यातिथेयाध्वरे,
हत्वा स्वीकृतकामधेनुरचिराद्यत्कार्तवीर्यः क्रुधा ।
जघ्ने सान्वयसाधनः परशुना रामेण तत्सूनुना,
तद्दुर्दण्डित इत्यपाति निरये लोभेन मन्ये हठात् ॥३१॥

तादृक्षे --- सकललोकचित्तचमत्कारिणि । जघ्ने --- हतः। सान्वयसाधनः--- संतानसैन्यसहितः।
रामेण --- परशुरामनाम्ना ॥३१॥

अथानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण--- प्रत्याख्यानावरण- संज्वलन संज्ञिकाः क्रोध- मान- माया
लोभनां प्रत्येक चतस्रोऽवस्था दृष्टान्तविशेषैः स्पष्ट यन् क्रमेण तत्फलान्यायद्वियेनोपदिशति ---

दृशदवनि- रजोऽब्रराजिवदश्मस्तम्भास्थिकाष्टवेत्रकत् ।

वंशाङ्घ्रिमेषशृङ्गोक्षमूत्रचारवदनुपूर्वम् ॥३२॥

कृमि- चक्र कायमलरजनिरागवदपि च पृथगवस्थाभिः ।

क्रुन्मानदम्भलोभा नारकतिर्यङ्मृसुरगतीः कुर्युः ॥३३॥

दृक्षदित्यादि । यथा शिला भिन्ना सती पुनरुपायशतेनापि न संयुज्यते तथाऽनन्तानुबन्धिना क्रोधेन विघटि तं मनः । यथा च पृथ्वी विदीर्णा सती महोपक्रमेण पुनर्मिलति तथाऽप्रत्याख्यानेन विघटि तं चेतः । यथा च धूली रेखाकारेण मध्ये भिन्ना अल्पेनाप्युपक्रमेण पुनर्मिलति तथा प्रत्याख्यानेने विघटि तं चितम् । यथा च

समस्त लोकके चित्तमें आश्चर्य पैदा करनेवाले अपने अतिथि सत्कारमें, सत्कार करनेवाले ऋषि जमदग्निको मारकर उनकी कामधेनु ले जाने वाले राजा कार्तवीर्यको जमदग्निके पुत्र परशुरामने क्रुध्द होकर सेना और सन्तानके साथ मार डाला । इसपर ग्रन्थकार कल्पना करते हैं कि उसको मिला यह दण्ड पर्याप्त नहीं था, माना इसीसे लोभने उसे बलपूर्वक नरकमें डाल दिया ॥३१॥

विशेषार्थ --- महाभारतके वनपर्व अध्याय ११६ में यह कथा इस प्रकार आती है कि राजा त्रिवीर्य जमदग्निके आश्रम में गये और उनकी कामधेनु गायका बछड़ा जबरदस्ती ले आये । उस समय आश्रममें केवल ऋषिपत्नी ही थी । उन्होने राजाका आतिथ्य किया । किन्तु राजाने उसकी भी उपेक्षा की । जब परशुराम आया तो उसकेपिता ने उससे यह समाचार कहा । रामने राजा कार्तवीर्यको मार डाला । इस सब हत्याकाण्डकी जड है कामधेनुका लोभ वही लोभ कार्तवीर्य और उसकेसमस्त परिवारकी मृत्युका कारण बना ॥३१॥

इस प्रकार उत्तम शौच भावनाका प्रकरण समाप्त हुआ ।

क्रोध, मान, माया, लोभमें सैं प्रत्येककी चार अवस्थाएँ होती हैं, उनके नाम अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन हैं । दृष्टान्तोंके द्वारा उसे स्पष्ट करते हुए क्रमसे दो आर्योंओकेद्वारा उनका फल बतलाते हैं ---

क्रोध, मान, माया और लोभ इनमें - सैं प्रत्येककी क्रमसे चार अवस्थाएँ होती हैं । शिलकी रेखा, पृथ्वीकी रेखा, धूलकी रेखा और जलकी रेखाके समान क्रमसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोध होता है । और यह क्रोध क्रमसे नरक गति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगतिमें उत्पन्न करता है । पत्थका स्तम्भ, हड्डी, लकडी और वेतके समान क्रमसे अनन्तानुबन्धी आदि मान होता है

जलं यद्दिना मध्ये छिद्यमानं स्वयंमेव निःसंबन्ध मिलति तथा संज्वलनेन विघटि तं चित्तमित्युपमानार्थः।
 एवमुत्तरेष्वपि यथास्वमसौ व्याख्येयः। वंशाङ्घ्रि --- वेणुमूलम् ॥३२॥ कृमिरागः--- कृमित्यङ्ग ताहारः ।
 तद्रज्जितोर्णातन्तुनिष्पादितो हि कम्बलो दग्धावस्थोऽपि न विरज्येत । चक्रकायमलौ --- घणककिट्टिका
 देहमलश्च । रजनी--- हरिद्रा । रागः ।ञ्चनपर्यायः। एषः कृम्यादिभिः प्रत्येकमभिसंबध्यते ।
 अवस्थाभिःसर्वोत्कृष्ट - हीन-हीनतर- हीनतमोदयरुपाभिरनन्तानुबन्ध्यादिशक्ति तभिः॥३३॥

जो क्रमसे नरक गति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगतिमें जन्म कराता है । बाँसकी जड़, मेढेके सींग, बैलका मूतना और चमरीके केशोके समान अनन्तानुबन्धी आदि माया होती है जो क्रमसे नरक गति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगतिमें उत्पन्न कराती है । क्रमिराग, चकेका मल, शरीरका मल और हल्दीके रंगके समान क्रमसे अनन्तानुबन्धी आदि लोभ होता है जो क्रमसे नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगतिमें जन्म कराता है ॥३२-३३॥

विशेषार्थ --- प्रत्येक कषायकी सर्वोत्कृष्ट अवस्थाको अनन्तानुबन्धी, उससे हीनको अप्रत्याख्यानावरण, उससे भी हीनको प्रत्याख्यानावरण और सबसे हीन अवस्थाको संज्वलन कहते हैं । यों हीनादि अवस्था अनन्तानुबन्धी आदिमें भी होती है व क्योंकि प्रत्येक कषायके उदयस्थान असंख्यात होते हैं । फिर भी ये हीनादि अवस्था जा अप्रत्याख्यानावरण आदि नाम पाती है उससे भिन्न है । सामान्यतया मिथ्यात्व सहभावी कषायकसे अनन्तानुबन्धी कहत हैं । उसके उदयमें सम्यग्दर्शन नहीं होता । इसी तरह अणुविरतिकी रोधक कषायको अप्रत्याख्यानावरण, महाविरतिकी रोकनेवाली कषायको प्रत्याख्यानावरण और यथाख्यात चारित्रकी घातक कषायको संज्वलन कहते हैं । मिथ्यादृष्टि के इनचारों कषायोंका उदय होता है । सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धीके बिना तीन ही प्रकारकी कषायोंका उदय होता है । इसी प्रकार आगे भी जानना। ऊपर प्रत्येक कषायको उपमाके द्वारा समझाया है । जैसे --- पत्थरटूट जानेपर सैकड़ों उपाय करनेपर भी नहीं जुडता, उसी तरह अनन्तानुबन्धी क्रोधसे टूट हुआ मन भी नहीं मिलता । जैसे पृथ्वी फट जानेपर महान् प्रयत्न करनेसे पुनः मिल जाती है उसी तरह अप्रत्याख्यान कषायसे टूट हुआ मन भी बहुत नप्रयत्न करलेसे मिलता है । जैसे धूलमें रेखा खीचनेसे वह दो हिस्सोंमें विभाजित हो जाती है और थोडा- सा भी प्रयत्न करनेसे मिल जाती है, उसी तरह प्रत्याख्यान कषायसे विघटि तं मन भी मिल जाता है । जैसे जलमें लकडीसे रेखा खीचते ही वह स्वयं ही तत्काल मिल जाती है, उसी तरह संज्वलन कषायसे विघटि तं चित्त भी मिल जाता है । इसी तरह शेष अपमानोका अर्थ भी जानना । ऊपर जो अनन्तानुबन्धी कषायसे नरक गति, अप्रत्याख्यानसे तिर्यच गतिमें जानेकी बात कही है यह स्थूल कथन है । वंशोक्ति अनन्तानुबन्धीका उदयवाला द्रव्य लिंगी निर्ग्रन्थ मरकर ग्रैवेयकमें देव होता है । इसी तरह अनन्तानुबन्धीके उदयवाला नारकी और देव मरकर मनुष्य या तिर्यच ही होता है । प्रथम नम्बरकी कषायमें केवल कृष्ण लेश्या ही होती है, दूसरे नम्बरकी कषायमें कृष्णमें कृष्णसे लेकर क्रमशः बढ ते हुए छह लेश्याएम् होती हैं । तीन नम्बरकी कषायमें छहों लेश्यासे लेकर क्रमशः षड ते हुए शुक्ल लेश्या होती है । ओर चतुर्थ नम्बरकी कषायमें केवल शुक्ल लेश्या ही होती है और लेश्याके अनुसार ही आयुका बन्ध होता है ॥३२-३३॥

घ्राणकि --- भ.कु.च।

अथोत्तमक्षमादिभिः क्रोधादीन् जितवतः शुक् त्ध्यानबलेन जीवन्मुक्तिं सुलभत्वपदिशति ---

संख्यातादिभवान्तराब्ददलपक्षान्तर्मुहूर्तायान्
दृग्देशव्रत्तवृत्तसाम्यमथनान् हास्यदिसैन्यानुगान् ।
यः क्रोधादिरिपून् रुधाद्धि चतुरोऽप्युद्घक्षमाद्यायुधै---
र्योगक्षेमयुतेन तेन सकलश्रीभूयमीषल्लभम् ॥३४॥

संख्यातादीनि --- संख्यातान्यसंख्यातान्यनन्तानि च । अब्ददलं --- षण्मासम् । आशयः--- वासना । ॐ तं
च ---

छांतोमुहुत्तपक् षं छम्मास संखऽसंखणंतभव ।
संजलणमादियाणं वासणकालो दूणियमेण ॥ [गो.कर्म.,गा. ४६]

दृगित्यादि --- यथाक्रमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनसंज्ञान् । ॐ तं च---

घृह्ण मो दंसणघायी विदिओ तह देसविरदिघार्द य ।
तदिओ संयमघार्ई चउत्थो जहखादघार्ई य ॥ [प्रा.पत्र.,गा.१।११५]

आगे कहते हैं कि उत्तम क्षमा आदिके द्वारा क्रोध आदिको जीतनेवाले साधुके लिए शुक् त ध्यानके द्वारा जीवन्मुक्ति त प्राप्त करना सुलभ है ---

सम्यग्दर्शनके घातक अनन्तानुबन्धी क्रोध आदिका वासनाकाल संख्यात, असंख्यात और अनन्त भाव है । देश चारित्रको घातनेवाले अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिका वासना काल छह मास है। सकल चारित्रके घातक प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिका वासनाकाल एक पक्ष है और यथाख्यात चारित्रके घातक संज्वलन क्रोध आदिका वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त है । जो उत्तम क्षमा आदि आयुधोके द्वारा हास्य आदि सेनाके साथ चारों ही क्रोध आदि शत्रुओंको रोकता है, क्षपक श्रेणीमें शुक् त ध्यानके साथ एक रूप हुए अर्थात् एकत्ववितर्क्रीवार नामक शुक् त ध्यानमें आरूढ हुए उस साधुको सकलश्री अर्थात् सशरीर अनन्तज्ञानादि चतुष्टय सहित समवसरण आदि विभूति बिना श्रमके प्राप्त हो जाती है ॥ ३४ ॥

विशेषार्थ --- ॐ त चारों कषाय सम्यक्त्व आदिकी घातक हैं । कहा है --- प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शनकी घातक है । दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशचारित्रकी घातक है । तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय सकल चारित्रकी घातक है और चौथी संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्रकी घातक

हैं तथा इन कषायोंका वासनाकाल इस प्रकार कहा है ---- संज्वलन आदि कषायोंका वासनाकाल नियमसे अन्तर्मुहूर्त, एक पक्ष, छह मास और संख्यात, असंख्यात, अनन्तभव होता है^६

इन कषायों रुपी शत्रुओंको वही जीत सकता है जो योगमोक्षसे युक्त होता है । योगका अर्थ होता है समाधि। यहाँ शुक्ल त्थ्यान लेना चाहिएक्योंकि वह कषायोंके निरोधका अविनाभावी है । कहा है--- कषाय रुप रजकेक्षयसे या उपशमसे शुचिगुणसे युक्त होनेसे शुक्ल त्थ्यान कहाता है।

और क्षेमका अर्थ होता है घात न होना । क्षपक श्रेणीमें होनेवाला शुक्ल त्थ्यान मध्यमें नष्ट नहीं होता। इस योगषेमसे जो युक्त होता है अर्थात् शुक्ल त्थ्यानरुप परिणत होता है, दूसरे शब्दोंमें एकत्ववितर्कत्रीचार नामक शुक्ल त्थ्यानमें लीन होता है । सोमदेव सूरिने

उद्धा:--- लाभपूजाख्यातिनिरपेक्षतयोत्तमाः। योगक्षेमयुतेन --- समाध्यनुपघातयुक्तैः
अलब्धलाभब्ध- परिरक्षणसहितेन च । सकलश्रीभूयम् --- जीवयुक्तं । (जीवन्मुक्तं) चक्रवर्तित्वं च ।
ईषल्लभं --- अनायासेन लभ्यते ॥३४॥

अथ सत्यलक्षणस्य धर्मस्य लक्षणोपलक्षणपूर्वकमनुभावमाह ---

कुटस्थस्फुट विश्वरूपपरमब्रह्मोन्मुखाः सम्मताः

सन्तस्तेषु च साधु सत्यमुदित तत्तीर्णसूत्रार्णवैः।

आ शुश्रूषतमः क्षयात्करुणया वाच्यं सदा धार्मिकैः--

घोराज्ञानविषादितस्य जगतस्तद्धयेकमुज्जीवनम् ॥३५॥

कुटस्थानि --- द्रवयरूपतया नित्यानि। विश्वरूपाणि --- चराचरस्य जगतोऽतीतानागतवर्तमानान्त-
पर्यायाकाराः। यदवोचत् स्वयमेव स्तुतिषु ---

सर्वदा सर्वथा सर्व यत्र भाति निखातवत्

तज्ज्ञानात्मानमात्मानं जानानस्तद्भवाम्यहम् ॥ []

साधु --- उपकारम् । उदितं --- वचनम् ॥३५॥

कहा है ---- मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामें ही लीन होता है उसे निर्बीज ध्यान अर्थात् एकत्ववितर्कत्रीचार नामक शुक्ल त्थ्यान कहते हैं । ७

सारांश यह है कि जैसे कोई विजिगीषु उत्कृष्ट आदि शक्ति त्योंसे युक्त, उत्कृष्ट आदि वैर रखनेवाले और सेना आदिसे सहित चारों दिशाओंके शत्रुओंको चक्र आदि आयुधोंसे मारकर योग और

क्षेम धारण करते हुए चक्रवर्ती हो जाता है, वैसे ही कोई भव्य जीव संख्यात आदि भवोंकी वासनावाली अनन्तानुबन्धी आदि क्रोधोंको हास्य आदि नोकषायोंके साथ, उत्तम क्षमा आदि भावनाके बलसे उखाडकर शुक्ल त्थ्यान विशेषकी सहायतासे जीवन्मुक्ति तक प्राप्त करता है । इस प्रकार उत्तम क्षमा आदिके माहात्म्यका वर्णनसमाप्त होता है ।

अब सत्य धर्मके लक्षण और उपलक्षणके साथ माहात्म्य भी बतलाते हैं ---

जिसमें द्रव्यरूपसे नित्य और स्पष्ट ज्ञानके द्वारा जानने योग्य चराचर जगत् को अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायाकार प्रतिबिम्बित होते हैं उस परमब्रह्मस्वरूप होनेके लिए जो तत्पर होते हैं उन्हे सन्त कहते हैं^१ और ऐसे सन्त पुरुषोंमें जो उपकारी वचन होता है उसे सत्य कहते हैं^२ परमागमरूपी समुद्रके पारदर्शी धार्मिक पुरुषोंका सदा करुणाबुद्धिसे सत्य वचन तबतक बोलना चाहिए जबतक सुननेके इच्छुक जनोंका

अज्ञान दूर न हो., व शोंकि घोर आनरूपी विषसे पीडित जगत् के लिए वह सत्य वचन अद्वितीय उद्बोधक होता है^३ ३५

विशेषार्थ --- सत्सु साधुवचनं सत्यम् , पुरुषोंमें प्रयुक्त सम्यक् वचनको सत्य कहते हैं ऐसी सत्य शब्दकी निरुक्ति है^४ तब प्रश्न होता है कि सन्त पुरुष कौन है ? जो परम ब्रह्मस्वरूप आत्माकी ओर उन्मुख है वे सन्त हैं^५ जैसे वेदान्तियोंका परम ब्रह्म सचराचर जगत् को अपनेमें समाये हुए है वैसे ही आत्मा

ज्ञानके द्वारा सब द्रव्योंकी भूत, वर्तमान और

भ.कु. च.^६

घनिर्विचारावतारासु चेतःश्रोतःप्रवृत्तिषु^७

आत्मन्येव स्फुरन्नात्मा तज्ज्ञयाध्दयानमबीजकर्तुः--- सो.उपा.,श्लो ६२३

अथ व्रतादित्रयविषयस्य सत्यस्य लक्षणविभागार्थमाह ---

अस्त्यविरतौ सत्यं सत्स्वसत्स्वपि यन्मतम्^८

वद्म समित्यां मितं तद्धि धर्मे सत्स्वेष बह्वपि^९ ३६

यत्^{१०} बह्वपीति सामथ्यर्पाल्लब्धम्^{११} ३६

भावी सब पर्यायोंको अपनेमें समाये हुए है अर्थात् स्वभावसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है ----घसभी द्रव्य त्रिकालवर्ती हैं^{१२} उनकी क्रमसे होनेवाली और जो हो चुकी हैं तथा आगे होंगी, वे सभी विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें वर्तमान पर्यायोंकी तरह ही, परस्परमें हिली- मिली होनेपर भी अपने- अपने निर्धारित विशेष लक्षणके साथ एक ही समयमें केवलज्ञानके द्वारा जानी जाती हैं^{१३} उएसे आत्मारूपकी

ओर जो प्रयत्नशील होते हैं वे ही सन्त है और जो वचन उन्हें उस रूप होनेमें सहायक होते हैं वे सत्य वचन हैं^६ घोर अज्ञानमें पड़े हुए अज्ञानी जनोंको ऐसे सत्य वचन तबतक श्रवण करना चाहिए जबतक उनका अज्ञान दूर न हो^६ ३५

आगममें सत्य महाव्रत, भाषा समिति और सत्यधर्म इस प्रकार सत्यके तीन रूप मिलते है इनमें उत्तर बतलाते हैं ---

असत्य विरति नामक महाव्रतमें ऊपर कहे गये सत्पुरुषोंमें भी बहुत बोलना भी सत्यमहाव्रत माना है^६ भाषा समितिमें सत् या असत् पुरुषोंमें परिमिति वचन बोलना सत्य है^६ और सत्यधर्ममें सत्पुरुषोंमें ही बहुत बोलना भी सत्य है^६ अर्थात् सत् और असत्पुरुषोंमें बहुत बोलना भी सत्यव्रत है^६ और सन्त पुरुषोंमें ही अधिक या कम बोलना धर्मसत्य है^६ ३६

विशेषार्थ --- पूज्यपाद स्वामीने सत्यधर्म और भाषा समितिके स्वरूपमें अन्तर इस प्रकार कहा है -
-- सन्त अर्थात् प्रशंसनीय मनुष्योंमे साधु वचनको सत्य कहते हैं^६ शंका --- तब तो सत्यधर्मका अन्तर्भाव भाषा समितिमें होता है^६ समाधान--- नहीं, क्योकि भाषा समितिके पालक मुनिको साधु और असाधु जनोंमें वचन व्यवहार करते हुए हित और मित बोलना चाहिए, अन्यथा रागवश अधिक बोलनेसे अनर्थदण्ड दोष लगता है, यह भाषा सतिता है^६ और सत्यधर्ममें सन्त साधुजनोंमें अथवा उनके भ्रमोंमें इतना, चारित्र आदिका उपदेश देते हुए धर्मकी वृद्धिके लिए बहुत भी बोला जा सकता है ऐसी अनुज्ञा है^६ ३६

धृक् क्लिगेव सव्वे सदसद्भूदा हि पज्जया तासिं^६

वदन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं^६ --- प्रवचनसार, ३७ गा.^६

धसत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते^६ ननु चैतद् भाषासमितावन्तर्भवति? नैष दोषः--

समिमौ वर्तमानो मुनि साधुष्वसाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितञ्च ब्रमयात् , अन्यथा रागादनर्थ-
दण्डदोषः स्यादिति वदन् सामितिरित्यर्थः^६ इह पुनः सन्तः प्रव्रजितास्तद् भ्रम ता वा ऐतुषु साधु सत्यं ज्ञान-
चारित्रलक्षादिषु बह्वपि कर्तव्यमित्यनुज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम्^६ --- सर्वार्थसिद्धि १६

अथ संयमलक्षणं धर्म व्याचिख्यासुस्तभेदयोरुपेक्षापहृतसंयमोर्मये केचिदुत्तर समतिषु वर्तमानाः
पालयन्तीत्युपदिशति ---

प्राणेन्द्रियपरीहारारूपेऽपहृतसंयमे^६

शमः क्रियाप्रियफले समिताः केऽपि जाग्रति^६ ३७

प्राणिपरीहारः--- एकेन्द्रियादिजीवपीडावर्जनम्^६ इन्द्रियपरीहारः--- स्पर्शनादीन्द्रियानिन्द्रियविषयेष्व
नभिष्वर्द्धं तद्विषया यथा---

पंच रस पंचवण्णा दो गंधा अद्दु फास सत्त सरा^६

मणसहिद अद्वीसा इन्द्रियभेया मणुयव्वा[गो.जीव., गा. ४७८]

फलं --- प्रयोजनमुपेक्षा संयमलक्षणम् जाग्राति --- प्रमादपरिहारेण वर्तते ३७

अथ द्विविधस्याप्यपहृतसंयमस्योत्तममध्यमजघनभेदाः (-दात्) त्रैकवध्यमालम्बमानस्य भावनायां प्रयोजयति

सुधीः समरसाप्तये विमुखयन् खमर्थान्मन---

स्मुदोऽथ दवयन् स्वयं तमपरेण वा प्राणितः

तथा स्वमपसारयन्नतु नुदन् सुपिच्छेन तान्

स्वतस्तदुपमेन वाऽपहृतसंयमं भावयेत् ३८

इस प्रकार सत्यधर्मका कथन समाप्त हुआ

अब संयम धर्मका कथन करना चाहते हैं उसके दो भेद हैं --- उपेक्षा संयम ओर अपहृत संयम। उनमें--- से अपहृत संयमको समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले साधु पालते हैं , ऐसा उपदेश कहते हैं ---

त्रस और स्थावर जीवोका कष्ट न पहुँचाना और स्पर्शन आदि इन्द्रियों तथा मनका अपने- अपने विषयोंमें प्रवृत्त न होना यह अपहृत संयम है। इस अपहृत संयमका पालन श्म ब है उसे किया जा सकता है तथा उसका फल उपेक्षा संयम भी इष्ट है। इस तरह अपहृत संयमका पालन श्म ब होनेसे तथा उसका फल इष्ट होनेसे आजकल सतिमियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले मुनि प्रमाद त्यागकर अपहृत संयममें जागरुप रहते हैं। अर्थात् सतिमियोंका पालन करनेसे इन्द्रिय संयम और प्राणी संयमरुप अपहृत संयमका पालन होता है और उससे उपेक्षा संयमकी सिद्धि होती है ॥३७॥

दोनों ही प्रकारके अपहृत संयमके उत्कृष्ट , मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन- तीन भेद हैं। उनके अभ्यासकी प्रेरणा करते हैं ---

विचारशील मुमुक्षुको उपेक्षा संयमकी प्राप्तिके लिए अपहृत संयमका अभ्यास करना चाहिए। रागद्वेषको उत्पन्न करके मनको क्षुब्ध करनेवाले पदार्थोंसे इन्द्रियको विमुख करना उत्कृष्ट इन्द्रिय संयमरुप अपहृत संयम है। अ त प्रकारके पदार्थको स्वयं दूर करके इन्द्रियके ग्रहणके अयोग्य करना मध्यम इन्द्रिय संयमरुप अपहृत संयम है ओर आचार्य आदिके द्वारा अ त प्रकारके पदार्थको दूर कराकर उसे इन्द्रिय ग्रहणके अयोग्य करना जघन्य इन्द्रिय संयमरुप अपहृत संयम है। तथा स्वयं उपस्थित हुए प्राणियोंकी रक्षाकी भावनासे अपनेको

--- याविषया भ.कु.च., गो. जी.।

समरसाप्तये --- उपेक्षासंयमलब्धयर्थम् । खं--- स्पर्शनादीन्द्रियम् । अर्थात्--- स्पर्शादिविषयात् । मन स्मुदः --- रागद्वेषोभ्दावनेने चित्तक्षोभकरान् दवयन् --- दूरीकुर्वन् । इन्द्रियग्रहणायोग्यं कुर्वन्नित्यर्थः । अपरेण--- गुर्वादिना । प्राणितः--- प्राणिभ्यः। सुपिच्छेन --- पत्र्वगुणोपेतप्रतिलेखनेन। तदुक्त्म् ---

धरजसेदाणमगहाणं मदव सुकुमालदा लहुत्तं च ।

स्वतः --- आत्मशरीरतः । तदुपमेन--- मृदुवस्त्रादिना ॥३८॥

वहाँसे अलग कर लेना अर्थात् स्वयं उस स्थानसे हट जाना अर्थात् प्राणिसंयमरूप अपहृत संयम है । अथवा पीछीसे उन प्राणियोंकी प्रतिलेखना करना मध्यमप्राणि संयमरूप अपहृत संयम है । अथवा नीछीके अभावमें कोमल वस्त्र आदिसे उन जीवोंकी प्रति लेखना करना जघन्य प्राणिसंयमरूप अपहृत संयम है ॥३८॥

विशेषार्थ ---- ईर्यासमिति आदिका पालन करनेवाला मुनि उसके पालनके लिए जो प्राणियों और इन्द्रियोंका परिहार करता है उसें संयम कहते हैं । एकेन्द्रिय आदि प्राणियोंको पीडा न देना प्राणिसंयम है और इन्द्रियोंके विषय शब्दादिमें रागादि न करना इन्द्रिय संयम है । अकलंक देवने लिखा है --- संयमके दो प्रकार हैं --- उपेक्षा संयम और अपहृत संयम । देश और कालके विधानको जाननेवाले, दूसरे प्राणियोंको बाधा न पहुँचानेवाले तथा तीन गुणियोंके धारक मुनिके राग- द्वेष से अनासक्त होनेको उपेक्षा संयम कहते हैं । अपहृत संयमके तीन भेद हैं --- उत्कृष्ट , मध्यम और जघन्य । प्रासुक वसति और आहार मात्र जिनका साधन है तथा ज्ञान और चारि१ स्वाधीन नहीं है, परावलम्बी है, वे मुनि बाहरी जीवोंके अचानक आ जानेपर यदि अपनेको वहाँसे हट कर जीवरक्षा रते हैं अर्थात् उस जीवको किंचित् भी बाधा न पहुँचाकर स्वयं वहाँसे अलग हो जाते हैं तो यह उत्कृष्ट है । कोमल उपकरणसे जो हटानेसे मध्यम है और यदि उसको हटानेके लिए साधु किसी दूसरे उपकरणकी इच्छा करता है तो जघन्य है । जैसे ये तीन भेद प्राणिसंयमके हैं, ऐसे ही तीन भेद इन्द्रिय संयमके भी जानना । राग- द्वेष उत्पन्न करानेवाले पदार्थोंसे इन्द्रियोंको ही विमुख कर देना, उत्कृष्ट , उस पदार्थको ही स्वयं दूर कर देना मध्यम और किसी उअन्यसे उस पदार्थको दूर करा देना जघन्य इन्द्रिय संयम है । श्वेताम्बर परम्परामें इसी संयमको सत्तरह भेदोंमें विभाजित किया है --- पृथिवीकायिक संयम, अपकायिक संयम, तेजस्कायिक संयम, वायुकायिक संयम, वनस्पतिकायिक संयम द्वीन्द्रिय संयम, त्रीन्द्रिय संयम, चतुरिन्द्रिय संयम, पंचेन्द्रिय संयम, प्रेक्ष्य संयम, उपेक्ष्य संयम, अपहृत संयम, प्रमृज्य संयम, कायसंयम, वाक् संयम मनःसंयम और उपकरण संयम । [तत्त्वार्थ. भाष्य ९।६॥]

संयमो हि द्विविधः--- उपेक्षासंयमोऽपहृतसंयमश्चेति । देशकालविधानज्ञस्य परानुपरोधेन उत्कृष्ट कायस्य त्रिधागुप्तस्य रागद्वेषनाभिष्वंगलक्षणं उपेक्षासंयमः। अपतसंयमस्त्रिविधः--- उत्कृष्टे मध्यमो जघन्य- श्चेति । तत्र प्रासुकवत्याहारमात्रसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् परिपालयत उत्कृष्टः, मृदुना प्रमृज्य जीवान् परिहरतो मध्यमः, उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः^६ --- तत्त्वार्थवार्तिक ९।६।१५।

अथास्वतन्त्रं बहिर्मन इत्युररीकृत्य स्वस्वविषयापायप्राचण्डयप्रदर्शनपरैः स्पर्शनादीन्द्रियैरेकशः सामर्थ्यं--- प्रत्यापादनाज्जगति स्वैरं त्वरमाणस्य मनसो निरोधं कर्तव्यतयोपदिशति ---

पश्याधीश विदन्त्यमी रविकराः प्रायः प्रभोऽग्नेः सखा ।
किं दूरेऽधिपतेषु कपक्कणभुवां दौः स्थित्यमित्येकशः,
प्रत्युप्तप्रभुशक्तिं त्वैरिव जगद्धावन्निरुध्यान्मनः ॥३९॥

नियमितान् --- बध्दान् । अत्र हस्तिनीस्पर्शदोषो व्यङ्ग्यः । एवमुत्तरत्रापि । यथाक्रमं रसगन्धवर्ण-
शब्दाश्चिन्त्याः । अश्रुपिल्लाः--- अश्रुभिः किं तन्ननेत्राः। अत्र वडिशरसास्वादनलंघ्यं पतिमरणदुःख
व्यङ्ग्यम् । विदन्तीत्यादि । अत्र कमलकोशगन्धलुब्धभ्रमरमरणं व्यङ्ग्यम् । अग्नेः सखा--- वायुः। अत्र
रूपालोकनोत्सुक- पतङ्गमरणं व्यङ्ग्यम्। फलकणभुवां --- शबराणाम् । अत्र गीतध्वनिलुब्धमृगवधो
व्यङ्ग्यम्। एकशः--- एकैकेन। प्रत्युप्तप्रभु शक्तिं त्वैरिव--- प्रतिरोपिता प्रतिविधेयसामर्थ्यम् । नियन्त्रयीत् मारयेद्वा
।

स्वच्छन्द मन बाह्य विषयोकी ओर दौडता है यह मानकर ग्रन्थकार अपने- अपने विषयोंमें
आसक्ति तसे होनेवाले दुःखोंकी उग्रताका प्रदर्शन करनेवाली स्पर्श आदि इन्द्रियोंमेंसे प्रत्येकके द्वारा अपनी
शक्ति तको जगत् में रोकनेवाले स्वच्छन्द मनको रोकनेका उपदेश देते हैं ---

सबसे प्रथम स्पर्शन इन्द्रिय कहती है --- हे स्वामिन् ! अपने मुँह अपनी तारीफ करना कुलीनोंको शोभा
नहीं देता, अतः आप स्तम्भोंमें बँधे हुए जंगली हाथियोंसे पूछिए। रसना इन्द्रिय कहती है --- हे नाथ! उस
रोती हुई मछलीको देख । घ्राणेन्द्रिय कहती है --- हे मालिक! ये सूर्यकी किरणें प्रायः मेरी सामर्थ्यको
जानती हैं । चक्षु इन्द्रिय कहाती है --- हे स्वामी! वे जो भील आदि हैंक या कहीं आपने इन्हे कष्ट से जीवन
बिताते देखा है ? इस प्रकार मानो इन्द्रियोंके द्वारा अपनी प्रभुशक्ति तको प्रतिरोपित करके जगतमें दौडते
हुए मनको रोकना चाहिए ॥३९॥

विशेषार्थ ---- प्रवचनसार गाथा ६४ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रजीने इन्द्रियाँ स्वभावसे ही दुःखरूप
हैयह बतलाते हुए कहा है कि जिनकी ये अभागी इन्द्रियाँ जीवित हैं उनका दुःख औपाधिक नहीं है,
स्वाभाविक है,क्योंकि उनकी विषयोंमें रति देखी जाती है । जैसे, हाथी बनावटी हथिनीके शरीरको स्पर्श
करनेकेलिए दौडता है और पकड लिया जाता है । इसी तरह बंसीमें लगे मांसके लोभसे मछली फँस जाती
है । भ्रमर कमलका रस लेनेमें आसक्त त होकर सूर्यके डूब जानेपर कमलमें ही बन्द हो जाता है । पंतगे
दीपककी और दौडकर जल मरते हैं । शिकारीकी गीतध्वनिको सुनकर हिरण मारे जाते हैं । इस तरह
प्रत्येक इन्द्रिय मनकी प्रभुशक्ति तको प्रतिरोपित करती है । इसी कथनको ग्रन्थकारने व्यंग्यके रूपमें बड़े
सुन्दर ढंगसे उपस्थित किया है। इन्द्रियाँ अपने मुँह अपनी तारीफ नहीं करतीक्योंकि यह कुलीनोका धर्म
नहीं है । अतः प्रत्येक इन्द्रिय अपनी सामर्थ्यको व्यंग्यके रूपमें प्रदर्शित करती है । स्पर्शन कहती है कि मेरी
सामर्थ्य जानना हो तो स्तम्भसे बँधे जंगली हाथिसे पूछो । अर्थात् जंगली हथिनीका आलिंगन करनेकी
परवशतासे ही वह बन्धनमें पडा है । रसना कहती है कि मेरी सामर्थ्य रोती हुई मछलीसे पूछो अर्थात्
बंसरसे लगे मोसको खानेकी लोलुपताके कारण ही उसका मत्स्य पकड लिया गया है। घ्राणेन्द्रिय कहती
है कि मेरी सामर्थ्य सूर्यकी किरणोंसे

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः।

मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः॥ड[तत्वानु ०, श्लो.७६] ॥३९॥

इतिन्द्रिसंयमसिद्धयर्थं मनः संयमयितुं मुमुक्षुरुपक्रमते ---

चिददृग्धीर्मु दुपेक्षिताऽस्मि तदहो चित्तेह हृत्पञ्च खजे,

स्फूर्जत्वं किमुपेक्षणीय इह मेऽभीक्षणं बहिर्वस्तुनि ।

इष्टं द्विष्टं धियं विधाय करणद्वारैरभिस्फारयन् ,

मां कुर्याः सुखदुःखदुर्मतिमयं दुष्टैर्न दूष्येत् किम् ॥४०॥

चित् --- चेतति संवेदयते स्वरूपं पररूपं चेति चित् स्वपराप्रकाशात्मकोऽयमहमस्मि प्रमाणादेशात् । दृक् ---
पश्यत्यनुभवति स्वरूपमात्रमिति दृक् स्वात्मोपलब्धिरूपोऽयमहमस्मि शुध्दनिश्चयनयादेशात् । धीः ---
ध्यायत्यनन्यपरतयोपलभते परस्वरूपामिति धीः परस्वरूपोपलब्धिरूपोऽयमहमस्मि । तत एव मुत् ---
मोदतऽन्तर्बहिर्विकल्पजालविलयादात्मनि विश्रान्तत्पादाहादते इति मुर्तं
शुध्दस्वात्मानुभूतिमयात्यन्तसुखस्वावोऽयमहमस्मि शुध्दनिश्चयनयादेशादेव^१ उपेक्षिता --- उपेक्षते स्वरूपे
पररूपेव बचिदपि न रज्यति न च द्वेष्टि इत्युपेक्षाद्वाशीलः परमोदासीनज्ञानमयोऽयमहमस्मि च तत एव^१
तथा चोक्त्वा ---

पूछोव शोकि सूर्यके अस्त हो जानेपर गन्धका लोभी भ्रमर कमलकोशमें बन्द होकर मर जाता है । चक्षु
कहती है कि मेरी शक्ति तकी साक्षी वायु है, व शोकि सर्वत्र गतिशाली है । वह जानती है कि रूपके लोभी
पतंगे किस तरह दीपक पर जल मरते हैं । श्रोत्रेन्द्रिय कहती है कि मेरी शक्ति तको मृगोका शिकार
करनेवाले शिकारी जानते है, व शोकि गीतकी ध्वनिके लोभी मृग उनकेज जालमें फँसकर मारे जाते है ।
इस तरह व्यंग्यके द्वारा इन्द्रियोंने अपनी शक्ति तकी प्रदर्शन किया है । किन्तु इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति तो मनके
अधीन है । अतः मनको जीतनेसे ही इन्द्रियोंको जीता जा सकता है । कहा भी है --- इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति
और निवृत्तिमें मन समर्थ है । इसलिए मनको ही जीतना चाहिए । मनके जीतनेपर जितेन्द्रिय होता है
॥३९॥

इसलिए मुमुक्षु इन्द्रिय संयमकी सिद्धिके लिए मनको संयमित करनेका अभ्यास करता है ---

मैं चित् हूँ --- प्रमाणकी अपेक्षा स्व और परका ज्ञाता हूँ । मैं दृक् हूँ --- अपने स्वरूप मात्रका
अनुभवन करनेवाला होनेसे शुध्द निश्चयनयसे स्वात्मोपलब्धि स्वरूप हूँ । मैं धी हूँ --- परकी ओर आसक्त च
न होकर परस्वरूपका ध्याता हूँ । इसीलिए अन्तरंग और बाह्य विकल्पजालोंके विलीन होनेसे अपनी
आत्मामें ही विश्रान्ति लाभ करनेसे मुत् हूँ अर्थात् शुध्दनिश्चयसे शुध्द स्वात्मानुभूतिमय अत्यन्त
सुखस्वभाव मैं हूँ । तथा मैं उपेक्षिता हूँ --- किसी भी स्वरूप या पररूपमें रागद्वेषसे रहित हूँ अर्थात् परम
औदासीन्य ज्ञानमय मैं हूँ । इसलिए हे मन! इस आगम प्रसिध्द द्रव्यमनमें या हृदयकमलमें उस-उस

विषयको ग्रहण उत्पन्न करके इन्द्रियोके द्वारा उस- उस विषयके उपभोगमें लगाकर मुझे घमै सुखी हूँ उ घमै दुखी हूँ इस प्रकार मिथ्या .

ज्ञानरूप परिणत करनेमें क या तुम समर्थ हो ? अथवा ऐसा हो भी सकता है क योकि अदुष्ट वस्तु भी दुष्ट के द्वारा दूषित कर दी जाती है ॥४०॥

घसद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता दृष्ट । सदाप्युदासीनः।

स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्तः । [तत्वानु. १५३ श्लो.]

हृत्पद्म उजे --- द्रव्यमनसि । यथेन्द्राराजः---

छत्रवक्त्रं तं अट्टदलं संकुड्यं हिययसरवरुष्णं ।

जो य रवितेयतवियं विहस्सए ज्ञत्तिकं दुट्टं []

स्फूर्जत् --- तत्तद्विषयग्रहणव्याकुलं भवत् । इह --- इन्द्रियैः प्रतीयमाने । अभिस्फारयत् --- अभिमुख्येन तत्तद्विषयोपभोगपरं कुर्वत् । कुर्याः--- अहं गर्हे अन्याय्यमेतदिति सप्तम्या द्योत्यते । घर्कित्ते लिङ्. लृट् । इति गर्हे लिङ् । दुर्मतिः--- मिथ्याज्ञानम् । तथा चोक्त्वा --- वासनामात्रमेवैतत् इत्यादि ॥४०॥
